केवल सुनना कहा। (ग)—*'बिकल पुर नारी'*— पुरकी स्त्रियोंका व्याकुल होना कहकर सूचित किया कि जैसे राजारानीको दुःख होता है, वैसे ही पुरकी स्त्रियोंको होता है। (रानियोंका दुःख ऊपर कह आये—*'रानिन्ह सहित सोच बस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया॥'* (२६७। ७) वैसा ही दुःख इनको है।) कारण कि पुरनारियोंको भी दोनों भाई अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—*'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥'* (२४१) (घ) *'सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी'* इति। *'सब मिलि'* का भाव कि गाली देतेमें कोई किसीको मना नहीं करती, सबका सम्मत एक है। सब सहमत हैं, यही सबका मिलना (मिलकर गाली देना) है। (ङ) बड़े लोग गाली नहीं देते, गाली देना उनको नहीं सोहता, यथा—*'गारी देत न पावहु सोभा।'* (२७४। ८) (ये वचन लक्ष्मणजीने परशुरामजीसे कहे हैं); इसीसे रानियोंका गाली देना नहीं लिखते, वे गाली नहीं देतीं। पुरनारियाँ गाली देती हैं, उनका गाली देना शोभा देता है। साधारण स्त्रियोंका यह स्वभाव है। [दूसरे, खलबली देखकर ये सब व्याकुल हैं; इसीसे ये राजाओंको बुरा-भला कह रही हैं। गीतावली १। ९५। ३ में जो कहा है *'देखे नर नारि कहैं, साग खाइ जाए माइ, बहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं।'*, यही गालीका नमूना है। *'कुलहि लजावैं बाल बालिस बजावैं गाल, कैधौं कूर कालबस तमकि त्रिदोषे हैं।'* इति लक्ष्मणवाक्य। (गी० १। ९५। २), इत्यादि वचन गाली ही हैं। परशुरामजीके यह कहनेपर कि 'यह भानुवंशके लिये कलंक है, कालके हवाले किया जायगा, इत्यादि', लक्ष्मणजीने कहा था कि *'गारी देत न पावहु सोभा'*]

नोट—२ *'तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा।'''* इति। (क) श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—*'तेहि अवसर'* अर्थात् जिस समय तेज-निधान लखनलालजी और मूढ़ महीपतियोंके बीचमें घोर युद्ध छिड़ जानेकी अत्यन्त सम्भावना थी उसी समयपर। ☞मानसमें *'तेहि अवसर'* शब्दका प्रयोग नवीन प्रसङ्गका श्रीगणेश बताता है। जैसे कि—*'तेहि अवसर आए दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई॥'* (२१५। ४) *'राजकुँअर तेहि अवसर आए।'* (२४१। १)*'तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई॥'* (२२८। २) *'प्रेममगन तेहि समय सब सुनि आवत मिथिलेसु।'* (२। २७४) *'तेहि अवसर रावन तहँ आवा।'* (५। ९) इत्यादि। (व्यापकजी भी लिखते हैं कि मानसमें तीस बार *'तेहि अवसर'* का प्रयोग कविने उन स्थलोंमें किया है जहाँ या तो इसके पूर्वके कार्यके पूर्ण होनेमें विलम्ब होता हो या कथाकी शृङ्खला समाप्त होती हो।) (ख) श्रीलक्ष्मणजी दुष्ट राजाओंपर कहर (अत्यन्त क्रोध) की दृष्टि डाल रहे हैं, पर बड़े भाईके अदब-लिहाजसे बोल नहीं सकते। इसी मौकेपर श्रीपरशुरामजीका आकर श्रीलक्ष्मणजीसे हैरान होना व्याजसे उनमें पराजित सभी राजाओंका पराजय सूचित करता है। (प्र० सं०)

२—श्रीलमगोड़ाजी अपने वि० सा० रा० (हास्यरस) के पृष्ठ ४३ में लिखते हैं कि 'जनताकी यह दशा है कि *'खरभरु देखि बिकल पुर नारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी॥'*—तसवीर कैसी चलती-फिरती और जीती-जागती है और फिर मजाक यह है कि निर्बलोंका अस्त्र 'गाली'। कितनी सुन्दर कला है कि ठीक ऐसे 'खरभर' के मौकेपर परशुरामजी रंगमंचपर लाये जाते हैं। वे क्रोधमें हैं और कवि उनका चित्र खींचता है—*'भृकुटी कुटिल नयन रिस राते।'* इनके आते ही खरभर गायब और राजाओंकी भी बोलती बंद। मानो चारों ओर श्रीवास्तवजीका सूत्र ही चरितार्थ होता दिखता है और राजाओंकी बोल गयी *'माई लार्ड कुकुडूं कूं।*

टिप्पणी—२ *'तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा'''* इति। (क) श्रीरामचन्द्रजीने जब धनुष तोड़ा तब उसका शब्द ब्रह्माण्डभरमें गूँज उठा—*'भरे भुवन घोर कठोर रव॥'* (२६१) उसी शब्दको सुनकर परशुरामजी चले। [धनुर्भंगके शब्दको सुनकर आये; यही मत श्रीहनुमन्नाटकका है। यथा—**'लक्ष्मणः। जामदग्न्यस्त्र्युट्युद्भैरवधनुःकोलाहलामर्षमूर्च्छितः, प्रलयमारुतोद्धूतकल्पान्तानलवत्प्रदीप्तरोषानलः। (रामं प्रति, परशुरामं सूचयन्)—'यद् बभञ्ज जनकात्मजाकृते राघवः पशुपतेर्महद्धनुः॥ तद्धनुर्गुणरवेण रोषितस्त्वाजगाम जमदग्निजो मुनिः।'**(अङ्क १ श्लो० २८) अर्थात् टूटे हुए शिवधनुषके भयानक शब्दके क्रोधसे मूर्छित, प्रलयकालीन पवनसे प्रदीप्त किये हुए प्रलयाग्नि-सदृश प्रचण्ड क्रोधवाले परशुरामजीको दिखाते हुए लक्ष्मणजी कहते हैं—'श्रीजनकात्मजाके लिये राघवने

जिस शिवधनुषको तोड़ा उसकी प्रत्यञ्चाके शब्दसे क्रोधित होकर जमदग्निके पुत्र परशुराम मुनि आये।' (व्रजरत्नभट्टाचार्यकी श्रीरामचरितामृतभाषाटीकासे)] (ख) *'सुनि सिव धनु भंगा। आयेउ'* इति। यहाँ (श्रीजनकपुरमें धनुर्भंगकी घोर ध्वनिसे) सब लोग सचेत हुए, सबने जय-जयकार किया, बाजे बजे, निछावरें हुईं, श्रीजानकीजी श्रीरामजीके समीप गयीं और उनको जयमाल पहनाया, आरती और निछावरें हुईं, राजा लोग कवच पहन-पहन गाल बजाने लगे, साधु राजा उनको सुन्दर शिक्षा देने लगे, सखियाँ श्रीजानकीजीको रानीके पास ले गयीं, श्रीरामजी गुरुजीके पास गये। पुरनारियाँ दुष्ट राजाओंको गालियाँ देने लगीं।—इतना काम होनेपर परशुरामजी यहाँ पहुँचे (अपने आश्रमसे यहाँतक आनेमें पवनवेगवाले परशुरामजीको इतना समय लगा।) कविने *'आयेउ'* एकवचनका प्रयोग यहाँ किया। क्योंकि इन्होंने यह न विचार किया कि जिस धनुषको देवता, दैत्य आदि टसकानेको भी समर्थ न थे उसका तोड़नेवाला भगवान्‌के अतिरिक्त कौन हो सकता है, और उनसे लड़ने आये। यथा—*'करु परितोषु मोर संग्रामा'''छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही।'* (२८१) [(ग) मा० त० वि० कार लिखते हैं कि 'खरभर सुनकर आनेका भाव यह है कि उन्होंने सोचा कि हमने तो पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर दिया था, अब ऐसा कौन वीर प्रकट हुआ है जिसने हमारे गुरुके ही धनुषपर हाथ लगाया'।]

टिप्पणी ३ *'भृगुकुल कमल पतंगा'* इति। (क) [सन्त उन्मनी टीकाकार लिखते हैं कि 'भृगुने श्रीशिवजी और ब्रह्माजीका निरादर किया था और विष्णुभगवान्‌की छातीमें लात मारी थी—परमपूज्य कुलके भावसे, और ये तो उस कुलमें परम वीररूप सूर्य ही हुए हैं फिर भला इनका क्या कहना! ये भला किसीको क्यों डरने लगे; इस भावसे भी *'भृगुकुल कमल पतंगा'* कहा। ये भगवान् अपने अवतारीपर वचनरूपी वज्रका प्रहार करेंगे ही, इसमें आश्चर्य क्या?'] (ख)—यहाँ *'भृगुकुल'* यह ब्राह्मणकुलसम्बन्धी विशेषण प्रसङ्गके प्रारम्भमें देकर जनाते हैं कि अब परशुरामजीकी बड़ाई केवल ब्राह्मणकुलकी (ब्राह्मणपनेकी) रह जायगी (वीरताकी बड़ाई न रह जायगी), यथा—*'भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहौं रिस रोकी॥'* (२७३। ५) *'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥'* (२८४। ५) *'जौं हम निदरहिं बिप्र यदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभट जेहि भय बस नावहिं माथ॥'* (२८४) (ग) यहाँ परशुरामजीको भृगुकुलकमलका पतंग कहते हैं और श्रीरामजीको *'बाल पतंग'* कह आये हैं, यथा—*'उदित उदय गिरि मंचपर रघुबर बाल पतंग॥'* (२५४) इस प्रकार यहाँ दो पतंग हैं। (एक ब्रह्माण्डमें दो सूर्य एक साथ नहीं रह सकते।) श्रीरामजीको बाल पतंग कहकर उनका उदय बताया है—*'उदित उदय'''*। इनका उदय कहकर (परशुरामजीको अस्तकालका सूर्य जनाते हुए) उनका अस्त दिखाया है। पुनः *'पतंग'* कहनेका भाव कि इससे यह सूचित करते हैं कि (इनके आनेपर) प्रथम भारी तेज देख पड़ा, पीछे उनका स्वरूप देख पड़ा—*'गौर सरीर'''*।'

नोट—३ *'भृगुकुल कमल पतंगा'*। (क) श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—पूर्व दोहा २५४ में *'उदित उदय गिरि मंचपर रघुबर बाल पतंग'* और उसका स्वाभाविक कार्य *'बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग'* भी कह आये हैं। यहाँ परशुराजीको *'पतंग'* मात्र कहा, इस तरह इनको तरुण पतंग सूचित कर रहे हैं। एक बाल पतंग तो पहलेसे उदित थे ही। अब एक तरुण पतंग (भास्कर) आ गये। दोनों एक ही मखमण्डप-नभमें उदित हैं। इससे दोनोंमें समरकी सम्भावना है और तरुण पतंगसे सर्व सभासदोंको ताप हो जायगा यह भी भाव जनाया गया है। यहाँ पद्मोंका प्रफुल्लित होना न कहनेसे पाया गया कि इस तरुण पतंगमें सन्त-सरोजोंको प्रसन्न (विकसित) करनेका सामर्थ्य उस समय न था। (ख)—'पतंग संज्ञा दोपहरके सूर्यकी है। जो खर और दाहक है और खूनको सुखानेवाला है। ये तीनों गुण परशुराममें हैं—*'करनी कठिन'* *'चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू॥'* *'भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहिं चितवत मनहु रिसाते॥'* (यही खूनका सोख लेना है।) इनको *'पतंग'* कहा और आगे रामजीको *'रघुकुल भानु'* कहेंगे। —*'लखन उतर आहुति सरिस''बोले रघुकुलभानु॥'* (२७६) भेदका कारण क्यों? भानु भोरके सूर्य हैं क्योंकि **'भा दीप्तौ'** इस धातुसे इसकी व्युत्पत्ति होती है—**'भात्यन्धकारं विधूय यः सः भानुः'** अर्थात् जो प्रकाशित

होकर अन्धकारको दूर करे वह *'भानु'* है। पतंग मध्याह्नके हैं क्योंकि **'पतन् सन् गच्छतीति पतंगः'** गिरता हुआ चले सो पतंग; अर्थात् दोपहरके बादके सूर्य अपनी प्रभासे गिरने लगते हैं। अतः रामजीको बढ़ना और परशुरामजीको घटना है। (रा० च० मिश्र) इसी विचारसे 'पतंग' कहा। (ग) भृगुवंशियोंको प्रफुल्लित करनेवाला कहनेका भाव यह है कि उस समय क्षत्रियोंका संहार देखकर भार्गव (भृगुवंशी) प्रसन्न होते थे। (पं०) पुनः 'पतंग' कहकर इनका आकाशमार्गसे आना तथा अतिशय तेजस्वी होना जनाया। (व्यापकजी)

देखि महीप सकल सकुचानें। बाज झपट जनु लवा लुकानें॥ ३॥
गौर* सरीर भूति भल भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा॥ ४॥

शब्दार्थ—**'बाज'**—यह एक प्रसिद्ध शिकारी पक्षी है जो चीलसे छोटा पर उससे अधिक भयंकर होता है। इसका रंग मटमैला, पीठ काली और आँखें लाल होती हैं। यह आकाशमें उड़नेवाली चिड़ियों आदिको झपटकर पकड़ लेता है। **'लवा'**—तीतरकी जातिका एक पक्षी जो तीतरसे बहुत छोटा होता है। यह जमीनपर अधिक रहता है। जाड़ेमें इसके झुंड-के-झुंड झाड़ियों और जमीनपर दिखायी देते हैं। बटेर भी कुछ ऐसा ही होता है। **'भूति'**=विभूति-भस्म। **भ्राजा**=शोभित है, फब रही है। **'त्रिपुंड'** (सं० त्रिपुण्ड)=भस्मकी तीन आड़ी रेखाओंका तिलक जो शैव लोग ललाटपर लगाते हैं। **बिराजा**=विशेष शोभित है, विराजमान है।

अर्थ—(उन्हें) देखकर सभी राजा (ऐसे) सकुचा गये मानो बाजकी झपटसे लवा पक्षी लुक (छिप, दुबक) गये हैं॥ ३॥ गोरे शरीरपर विभूति अच्छी शोभित हो रही है। विशाल (ऊँचे एवं लंबे-चौड़े) ललाटपर त्रिपुण्ड्र विशेष शोभायमान है॥ ४॥

नोट—१ दुष्ट राजाओंका अहंकार दूर करनेके लिये भगवत्-इच्छासे इसी समय परशुरामजी आये। इनको देखते ही राजा सकुचकर जा छिपे। अर्थात् राजारूपी तारागणका तेज जाता रहा, फिर भला रघुवर बाल-पतंग जो अब मध्याह्नपर प्राप्त हो रहा है उसके सामने वे क्या ठहरते? (प्र० सं०)

टिप्पणी—१ *'देखि महीप सकल सकुचानें'*' इति (क) सकुचानेका कारण यह है कि परशुरामजी सब राजाओंके वैरी हैं (यथा—*'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित क्षत्रियकुल द्रोही॥'* (२७२। ६) *'सकुचाने'* कहकर सूचित किया कि राजा कवच पहने और शस्त्रास्त्र धारण किये हुए हैं (यथा—*'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥'* (२६६। २) इसीसे वे परशुरामजीको देखकर सकुच गये; बड़ेको देखकर छोटेको संकोच होता ही है। (सकुच इससे भी कि परशुरामजी यह न समझें कि लड़नेके लिये तैयार होकर खड़े हैं।) *'सकुचाने'* से यह भी जनाया कि कवच तथा अस्त्र-शस्त्र जो धारण किये हुए थे उन्हें उतार डाला [और इधर-उधर छिपाकर गौ बनकर बैठ गये। (प्र० सं०)] (ख)—*'बाज झपट जनु'* इस दृष्टान्तसे जनाया कि परशुरामजी बड़े वेगसे आये [और आकस्मिक भी तथा आकाशमार्गसे। स्मरण रहे कि जबसे परशुरामजीने क्षत्रियोंसे पृथ्वीको छीनकर महर्षि कश्यपको दान कर दी थी, तबसे वे महेन्द्राचलपर ही रहते थे। वहींसे मनोवेगद्वारा आकर प्राप्त हुए हैं। पृथ्वीको दानमें दे दी इससे उसपर रातमें नहीं रहते। यथा—'**स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुन्धराम्। दत्त्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः॥**'(वाल्मी० १। ७५। ८) अर्थात् आप सारी पृथ्वी कश्यपजीको देकर महेन्द्राचलके वनमें जाकर तप करने लगे थे। पुनश्च—'**सोऽहं गुरुवचः कुर्वन्पृथिव्यां न वसे निशाम्।**''**तदिमां त्वं गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव। मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम्।**' (वाल्मी० १। ७६। १४-१५) अर्थात् मैं गुरु कश्यपजीकी आज्ञा मानकर रात्रिमें पृथ्वीपर नहीं रहता। अतः हे राघव! आप हमारी गतिको नष्ट न कीजिये। जिससे हमारी वेगवती चाल बनी रहे और मैं मनोवेगसे शीघ्रतापूर्वक महेन्द्राचलपर पहुँच जाऊँ।] (ग) *'लवा लुकानें'* इति। लवाका दृष्टान्त देकर भय सूचित किया। जैसा बाजके झपटनेसे लवाको भय होता है, क्योंकि वह उसका सामना करनेमें असमर्थ होता है, वैसा ही भय परशुरामजीको देखकर राजाओंको हुआ।—*'लवा*

---

* श्रावणकुंज १६६१ की पोथीमें 'गौरि' पाठ है। और सबोंमें 'गौर' ही पाठ मिलता है।

लुकाने' का भाव कि जो कवच पहन-पहनकर खड़े होकर गाल बजाने, डींगें मारने लगे थे, वे लवाकी तरह बैठकर छिप गये, उनको अपने ही प्राणोंके बचनेका संदेह हो गया। [*'लुकाने'* शब्दसे अनुमानित होता है कि डरके मारे मचानोंके नीचे जा छिपे अथवा दुबककर बैठ गये। बाज और लवाकी उत्प्रेक्षा बड़ी उत्तम है। यह शरद्‌ऋतुका समय है, जाड़ेमें लवोंके झुण्ड-के-झुण्ड दिखायी देते हैं; वैसे ही यहाँ राजाओंका समाज एकत्रित है। बाज अकेला झुण्ड-के-झुण्डके लिये पर्याप्त, वैसे ही परशुरामजी अकेले ही सबके लिये पर्याप्त। बाज बड़े वेगसे झपटता है वैसे ही परशुरामजी महान् वेगसे आये। इनके वेगका विस्तृत वर्णन वाल्मी० १। ८४ में है। पृथ्वीभरके क्षत्रिय राजा इस समय यहाँ एकत्रित हैं। कहीं परशुरामजी फिर पृथ्वीको निःक्षत्रिय करने तो नहीं आ गये, यह सोचकर राजा सहम गये।] यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

श्रीलमगोड़ाजी—'खूब! सारी तीस्मारखानी परशुरामजीकी सूरत देखते ही हवा हो गयी। ···साहित्यमर्मज्ञ अनुप्रासोंका आनन्द लूटें और नाटकीय एवं हास्यकलाकी दाद दें।'

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—(क) *'महीप सकुचानें'।* इति। पतंगके उदयसे कुमुद संकुचित होते ही हैं, यथा—*'अरुनोदय सकुचे कुमुद···।'* (२३८) कुमुद निशाप्रिय है। मोह निशा है, यथा—*'मोह निसा प्रिय ज्ञान भानु गत।'* इससे *'मूढ़ मन माखे।'* (२६६। १) के *'मूढ़'* शब्दकी यथार्थता सिद्ध होती है। (ख) *'लुकानें'* इति। सूर्योदयपर उलूक छिप जाते हैं। उत्तरकाण्डमें अघको उलूक और कामको कैरवकी उपमा दी है, यथा—*'अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥'* (७। ३१। ४) इससे यह भाव भी जनाया कि सब महीपति कामी थे। इसीसे उनको शोक हुआ। *'बहुतन्ह मन सोका।'* (७। ३१। २) कहा ही है।

टिप्पणी—२ *'गौर सरीर भूति भल भ्राजा···'* इति। (क) *'गौर'* से शरीरकी, *'भल भ्राजा'* से विभूतिकी *'बिसाल'* से ललाटकी और *'बिराजा'* से त्रिपुण्डकी शोभा कही। अर्थात् शरीर शोभित है, शरीरमें विभूति शोभित है, भाल शोभित है और भालमें त्रिपुण्ड विशेष शोभित है। (ख) भ्राजना और विराजना दोनोंका अर्थ 'दीप्तमान् होना' है—*'भ्राजृ दीप्तौ, राजृ दीप्तौ'*। *'भ्राजा'* शब्दको स्त्रीलिङ्ग और पुँलिङ्ग दोनोंमें एक ही तरह लिखते हैं; यथा—*'कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा'* में *'भ्राजा'* पुँल्लिङ्ग है और *'बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा।'* (४। १५। ११) में *'भ्राजा'* स्त्रीलिङ्ग है। भाषामें कहीं-कहीं स्त्रीलिङ्ग-पुँलिङ्गका विचार नहीं रहता है। (ग) *'भूति भल भ्राजा'* कहनेसे सूचित हुआ कि विभूति शुक्ल (श्वेत) है, शरीरके अनुहरित है। *'भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा'* से जनाया कि ललाट जैसा भारी (चौड़ा और ऊँचा) है वैसा ही भारी त्रिपुण्ड है और सुन्दर है।

सीस जटा ससि बदनु सुहावा। रिस बस कछुक अरुन होइ आवा॥ ५॥
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते॥ ६॥

शब्दार्थ—**राते**=रक्त वर्णके; लाल। यह 'रक्त' का अपभ्रंश है। **रिसाना**=कुपित होना, क्रोध करना।

अर्थ—सिरपर जटा है। चन्द्रमाके समान सुन्दर मुख है (जो) क्रोधवश कुछ लाल हो आया है॥ ५॥ भौंहें टेढ़ी हैं। नेत्र क्रोधसे लाल हैं। स्वाभाविक (साधारणतया भी) देखते हैं (तो ऐसा जान पड़ता है) मानो क्रोध कर रहे हैं (क्रोधमें भरे हैं)॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सीस जटा ससि बदनु···'* इति। (क) ☞यहाँ परशुरामजीकी शोभाका वर्णन करते हैं, इसीसे सिरसे वर्णन उठाया है। शृङ्गारका वर्णन सिरसे प्रारम्भ करते हैं। [परशुरामजी बालब्रह्मचारी हैं और ब्रह्मचारीको **'मुण्डो वा जटिलो वा स्यात्'** (मनु० अ० २। २१९) रहना चाहिये। अतः *'सीस जटा'* कहा है। (व्यापकजी)] (ख) *'ससि बदन सुहावा'*—*'सुहावा'* कहकर पूर्णचन्द्रकी उपमा सूचित की। पूर्णचन्द्र ही *'सुहावा'* (सुन्दर) होता है यथा—*'प्राचीदिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा॥'* (२३७। ७) अथवा, *'सुहावा'* को *'ससि'* का विशेषण मानें तो अर्थ होगा—'सुन्दर चन्द्रमाके समान मुख है'। शशिका विशेषण माननेसे भाव होगा कि चन्द्रमामें दोष है यथा—*'अवगुन*

बहुत चन्द्रमा तोही।' (२३८। २) और आपका मुख निर्दोष सुन्दर चन्द्रमाके समान है। [पुनः, चन्द्रमें गुरु-पत्नीगमन दोष है, यथा—'*ससि गुरुतियगामी*"।' परंतु आप गुरुद्रोहीका वध करने आये हैं, अतः गुरु-अपमान दोष न होनेसे '*सुहावा*' कहा। शशिकी उपमासे मुखकी आकृतिको गोल जनाया। (व्यापकजी)] (ग) श्रीपरशुरामजीका शान्त वेष वर्णन कर रहे हैं—'*सांत बेषु*"'। (२६८) इसीसे वेषमें शुक्लताका वर्णन कर रहे हैं; कारण कि शान्तरसका वर्ण शुक्ल है। गौर शरीर शुक्ल, विभूति शुक्ल, त्रिपुण्ड शुक्ल, मुख पूर्णचन्द्रसमान शुक्ल, जटाओंमें विभूति लगी है। इससे वे भी शुक्ल और सारे शरीरमें विभूति रमाये हुए हैं इससे सर्वाङ्ग शुक्ल—इस तरह सारी सामग्री शुक्ल-ही-शुक्ल है। (घ) '*रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा*'—यह '*बदनु*' का विशेषण है। रिसवश किञ्चित् ललायी आ गयी है, यह भी शोभा है (धनुर्भङ्गकी ध्वनि सुनकर परशुरामजीको अभी अल्पक्रोध स्थायी है। उसकी अल्पता '*कछुक*' शब्दद्वारा प्रकट की गयी है। आगे चलकर वह पूर्ण रसरूप होगा।)

टिप्पणी—२ '*भृकुटी कुटिल नयन रिस राते*"' इति। (क) भौंहें सदा टेढ़ी रहती हैं, इसीसे उनके टेढ़ेपनका कोई कारण नहीं लिखते। भौंहका टेढ़ापन उसकी शोभा है। नेत्र सदा लाल नहीं रहते, रिससे लाल हुए हैं, इससे उनके लाल होनेका कारण दिया। पुनः, भौंहकी कुटिलता और नेत्रोंकी अरुणता दोनों क्रोधके चिह्न हैं, यथा—'*अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप।*' (२६७) अथवा क्रोधसे भृकुटी कुटिल हो गयी है, यथा—'*माषे लषन कुटिल भै भौहैं। रद पट फरकत नयन रिसौंहैं॥*' (२५२। ८) इस प्रकार '*रिस*' को दोनोंमें लगा सकते हैं। (ख) '*सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते*' इति। यथा—'*जेहि सुभाय चितवहिं हितु जानी। सो जानै जनु आइ खुटानी॥*' (२६९। ३) यहाँ 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

बृषभ कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ* माल मृगछाला॥ ७॥

कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधें। धनु सर कर कुठार कल काँधें॥ ८॥

अर्थ—बैलके-से (ऊँचे और मांसल) कंधे हैं, छाती चौड़ी और भुजाएँ लम्बी हैं (अर्थात् आजानुबाहु हैं)। सुन्दर जनेऊ, माला और मृगछाला (पहने हुए हैं)॥ ७॥ कमरमें मुनिवस्त्र है, (उसीमें) दो तरकश बाँधे हुए हैं। धनुष और बाण हाथमें हैं। सुन्दर कुठार (फरसा) सुन्दर कन्धेपर है॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*बृषभ कंध उर*"' इति। (क) '*बृषभ कंध*' अर्थात् पुष्ट (ऊँचे और मांसभरे हुए) हैं। उर विशाल (अर्थात् वक्षःस्थल चौड़ा) है और बाहु विशाल अर्थात् घुटनेतक लम्बी हैं। (ख) यहाँतक तीन अङ्गोंके सम्बन्ध लिखे और तीन अङ्ग केवल (अर्थात् बिना सम्बन्धके) लिखे। भाल केवल है, उसके साथ किसी अङ्गका सम्बन्ध नहीं है। शीशके साथ जटाका सम्बन्ध है। बदनके साथ किसी अङ्गका सम्बन्ध नहीं है भृकुटी और नयनका सम्बन्ध है, कन्धे और उरसे बाहुका सम्बन्ध है। कन्धेके समीप ही बाहु है। ग्रन्थमें उर और बाहुका सम्बन्ध बहुत मिलता है। यथा—'*अरुन नयन उर बाहु बिसाला।*' (२०९। १) '*छतज नयन उर बाहु बिसाला।*' (६। ५२। १) तथा यहाँ '*बृषभ कंध उर बाहु बिसाला*'। इसी प्रकार कन्धे और बाहुका भी सम्बन्ध मिलता है, यथा—'*केहरि कंधर बाहु बिसाला।*'(२१९। ५) कटिके साथ किसी (अङ्ग) का सम्बन्ध नहीं है। सर्वाङ्ग मिलकर शरीर एक है, इसीसे शरीरको केवल (बिना सम्बन्धके) लिखा।—ऐसा वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि स्वरूपके वर्णन करनेकी अनेक रीतियाँ हैं, उनमेंसे एक रीति यह भी है। कोई अङ्ग किसी दूसरे अङ्गके सम्बधसे शोभित होता है और कोई अङ्ग केवल (अकेले ही, अपनेसे ही, बिना किसीकी सहायताके) शोभित होता है। जो अङ्ग केवल कहे, वे केवल शोभित हैं और जिन अङ्गोंका सम्बन्ध कहा, वे सम्बन्धसे शोभित हैं। (ग) '*चारु*' जनेऊ, माल और मृगछाला तीनोंका विशेषण है। वृषभ-कन्धपर कुठार और मृगछाला हैं, उरपर जनेऊ और माला है, और बाहुमें धनुष-बाण हैं। [हनु० १। २९ में चितकबरे (रुरु) मृगकी

* जनेऊ कटि—छ०। जनेउ माल—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२।

त्वचाका धारण करना कहा है, यथा—'**भस्मस्निग्धपवित्रलाञ्छितमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्**।' अतः '*मृगछाला*' से वही मृगचर्म समझना चाहिये।]

टिप्पणी २ '***कटि मुनि बसन***…' इति। (क) मुनिवसन अर्थात् वल्कलवस्त्र है, यथा—'***बलकल बसन जटिल तन स्यामा। जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा॥***' ['***सीस जटा, ससि बदन सुहावा, चारु जनेउ माल, मृगछाला।***' और '***कटि मुनि बसन***' इन शब्दसमुच्चयोंमें मुनिवेषका दिग्दर्शन है। श्रीरामजीको मुनिवेषका नमूना प्रत्यक्ष दिखाया है (आगे उनको मुनिवेष धारण करना है।) मुनि, मृगछाला और मुनिवसनोंका आवश्यक साहचर्य बताकर लङ्काकाण्डमें वहाँ (सुवेल पर्वतकी झाँकीमें) '***मृगछाला***' शब्द आता है वहाँ उस मृगचर्मके विषयमें क्लिष्ट कल्पनाओंकी उत्पत्ति होनेका सम्भव मिटानेका प्रयत्न किया है। (श्रीप्रज्ञानानन्दजी)] (ख) '***तून दुइ बाँधें***' इति। दो तरकश बाँधे कहकर सूचित किया कि परशुरामजी दाहिने और बायें दोनों हाथोंसे धनुष धारण करते हैं, [दोनों हाथोंसे धनुष खींचना और बाणोंका संग्रह एवं संधान करना जानते थे। दोनों हाथोंसे धनुष खींचने और बाण चलानेमें अभ्यस्त थे। जिधर प्रयोजन हुआ उधर ही चलाते। जब जिस हाथसे बाण चलाते थे उसके दूसरी ओरके तरकशसे बाण निकालते थे। जैसे अर्जुन दोनों हाथोंसे बाणोंका संग्रह और संधान करते थे। दाहिने हाथसे तो प्रायः बाण चलाते ही थे, पर बायें हाथसे भी बाण-समूहोंका सन्धान करते थे, इसीसे उनको '**सव्यसाची**' कहा है—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**।' (गीता ११। ३३) भाव यह कि दोनों हाथोंसे युद्ध करनेमें समर्थ सूचित किया।] इसीसे दोनों ओर तरकश बाँधे हैं। अथवा, [दो धनुष हैं, एक अपना और एक विष्णुका, इसीसे दो तरकश भी हैं। एकमें शार्ङ्ग बाण हैं और एक साधारण अपने कामके लिये हैं। विष्णु-धनुष तो इनसे चढ़ता ही न था। यही वैष्णव-धनुष और बाण परशुरामजीसे लेकर श्रीरामजीने चढ़ाया है; यथा—'**इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य शरासनम्। शरं च प्रति जग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः॥**' (वाल्मी० १। ७६। ४) पं० रा० च० मिश्रजीका मत है कि एक तूण पिनाकीका और एक विष्णुका है, विशेष २८४। ७। '***राम रमापति***…' में देखिये। हनु० १। २९ में भी दो तरकश कहे हैं—'**चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतः**'] (ग)—'*धनु सर कर कुठार कल काँधें*' इति। परशुरामजी तीन शस्त्र धारण किये हुए हैं। इसीसे लक्ष्मणजीने इन्हीं तीनका नाम लिया है, यथा—'***ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा।***' (२७३। ८) ☞ जहाँ वीर-रसयुक्त रूपका वर्णन है वहाँ ऐसा ही वर्णन करते हैं; यथा—'***जटा जूट दृढ़ बाँधे माथे। सोहहिं सुमन बीच बिच गाथे॥ अरुन नयन बारिद तनु स्यामा। अखिल लोक लोचनाभिरामा॥ कटितट परिकर कस्यो निषंगा। कर कोदंड कठिन सारंगा॥ सारंग कर सुंदर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यो। भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरासुर पद लस्यो॥***' (इत्यादि। ६। ८५) ['*कुठार*'—यह परशु (फरसा) है जो इनका मुख्य आयुध है। इसीसे इन्होंने सहस्रबाहुकी भुजाएँ काटीं और पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया। धनुष-बाण दूरसे आघात करनेके लिये रखते हैं।]

प० प० प्र०—१ '***गौर सरीर भूति भल भ्राजा***' से '***धनु सर कर कुठार कल काँधें***' तक परशुरामजीके शान्त और वीर वेषका सम्मिश्रण वर्णन किया है। वह भी मिश्रण पद्धतिसे—पहले तीन अर्धाली ('***गौर सरीर***' से '***रिसाते***' तक) शान्त वेषकी, फिर दो मुनिवेषकी और अन्तमें एक वीरवेषका वर्णन करती है।

२—उपक्रम शान्त वेषसे और उपसंहार वीर वेषका करनेमें भाव यह है कि शान्त वेषका कार्य स्थगित होकर उत्तरोत्तर वीर वेषका ही कार्य होगा। इसी भावसे दोहेमें भी शान्तका उल्लेख प्रथम करके तब वीरका करते हैं।

३—ऊपर दो० २६७ में श्रीलक्ष्मणजीको वीर-रसमें दिखाया है और यहाँ परशुरामजीमें भी वीर-रसकी ही प्रधानता देख पड़ती है। दोनोंका मिलान करनेसे यह भाव प्रकट होता है कि दोनोंमें अवश्य खूब खटकेगी; अब समीप भविष्यमें ही दोनोंकी बराबरी होगी। यथा—'***तौ कि बराबरि करत अयाना।***' दोनोंका मिलान—

लक्ष्मणजी		वीर-रसके परशुराम
अरुण नयन	१	*नयन रिस राते (अधिक क्रोध)*
भृकुटी कुटिल	२	*भृकुटी कुटिल (साम्य)*
चितवत सकोप	३	*सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते* *(स्वभाव सकोपता—'मैं अकरुन कोही')*
मत्त गजगन······चोप	४	*रिस बस कछुक अरुन होइ आवा*

दो०—सांत* बेषु करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनि तनु जनु बीररसु आयउ जहँ सब भूप॥ २६८॥

अर्थ—वेष (तो) शान्त है (पर) करनी कठिन है। स्वरूपका वर्णन नहीं किया जा सकता। (ऐसा जान पड़ता है) मानो (साक्षात्) वीररस मुनि-शरीर धारण करके वहाँ आया है जहाँ सब राजा हैं॥ २६८॥

श्रीलमगोड़ाजी—१ श्रीतुलसीदासजी बड़े ही सुन्दर आलोचक भी हैं। क्या परशुरामजीके वेषकी आलोचना दोहेसे बढ़कर हो सकती है? २—इस प्रसङ्गपर 'मानस-पीयूष' का शीर्षक 'परशुरामका रोष और पराजय' महाकाव्यकलाके सम्बन्धसे बड़ा ही सुन्दर है, पर वही बात वि० सा० रा० के 'हास्यरस' में यों कही गयी है—'अब श्रीवास्तवजीके सूत्रका एक उदाहरण और देखिये। और फिर लुफ्त यह है कि अब परशुरामजीसे उसी तरह 'कुकडूँकूँ बुलायी जायगी, जैसे उनके आनेपर राजाओंसे बुलायी गयी थी।' ३—महाकाव्यकलाके दृष्टिकोणसे विद्वानोंके जो विचार 'मानस-पीयूष' में दिये गये हैं, उनके सामने कुछ लिखना सूर्यको चिराग दिखाना होगा। हाँ, मैं अपने नोटोंद्वारा हास्यरस और नाटकीयकलापर अधिक प्रकाश डालनेकी चेष्टा करूँगा।

टिप्पणी—१ (क) ***'सांत बेषु'*** इति। जटा, विभूति, त्रिपुण्ड, माला, मृगछाला, मुनिवस्त्र—यह शान्तरसका वेष है। ऊपर चौ० ५ टि० १ (ग) में विशेष लिखा जा चुका है। ['शान्त' के साथ 'वेष' शब्द जोड़कर बताया कि परशुरामजी अब केवल वेषधारी मुनि थे। (प्र० स्वामी)] (ख) ***'करनी कठिन'*** इति। तरकश, धनुष-बाण और कुठार धारण करना यह वीररसकी करनी है। यह करनी कठिन है, अर्थात् इससे अनेकों जीवोंका वध होता है। (परशुरामजीके कार्य कठोर हैं। इन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया था। यह आगे वे स्वयं कहेंगे।) (ग) ***'बरनि न जाइ सरूप'***—शान्तरस मृदु है और वीररस कठोर है। यहाँ परशुरामजीमें दोनों हैं, इसीसे स्वरूपका वर्णन नहीं करते बनता अर्थात् न कठोर कहते बने और न कोमल ही। (घ) ***'धरि मुनि तनु जनु बीररसु'*** इति।—शान्त वेष करना मुनितन धारण करना है। शस्त्र धारण करना वीररस है। वीररसने मुनितन धारण किया, यह कहकर सूचित किया कि अब राजा लोग न मारे जायँगे, क्योंकि मुनि हिंसा नहीं करते। वीररस मुनितन धरकर आया, क्योंकि वीरके चरणोंपर वीर नहीं गिरते, मुनिके चरणोंपर पड़ते हैं। इसीसे वीररस मुनिवेष धारण करके आया जिसमें सब राजा हमारा आदर करें, हमारे चरणोंपर मस्तक नवावें। [पूर्व श्रीरामजीको वीररसकी मूर्ति कह आये हैं, यथा—***'देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहु बीररस धरे सरीरा॥'*** (२४। १। ५) वे क्षत्रियवेषमें वीररसकी मूर्ति हैं और परशुराम मुनितनमें वीररसकी मूर्ति हैं। वीररस मुनिवेषसे आया है इसीसे श्रीराम-लक्ष्मणजी इनको प्रणाम

---

*'संत'—रा० बा० दा०, ना० प्र०, को० रा०। साधु—१७०४। सांत १६६१, १७२१, १७६२, छ०। 'सांत' पाठ ही समीचीन है। इसका समर्थन 'धरि मुनि तनु···' से भी होता है और प्र० रा० ना० से। नोट १ में देखिये। 'वीररस' के सम्बन्धसे 'सांत' पाठ उत्तम है। संत वेष कोई निश्चित नहीं, गृहस्थों, वानप्रस्थोंमें भी संत होते हैं। कुवेशमें भी संत होते हैं। यति, वैरागी, वैष्णव, शैव सबमें संत होते हैं, सबके वेष एकसे नहीं होते। इसीसे मानसमें कविने सन्तके वेषका उल्लेख भी कहीं नहीं किया। केवल उनके लक्षण बताये हैं। अमुक-अमुक लक्षण जिसमें हों वही संत है। यथा—'ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥' (७। ३८) विभीषण राक्षस थे पर संत थे, यथा—'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।' अतः 'सांत' पाठ ही उत्तम है।'

करेंगे, नहीं तो न करते जैसा अगले वाक्योंसे स्पष्ट है। यथा—'*जौ हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥*' (२८३) '*जो तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥*' (२८१। ३) इत्यादि।] (ङ)—'*बीररसु आयउ जहँ सब भूप*' इति। वीररसका शरीर धरकर राजाओंके समाजमें आना इससे कहा कि राजालोग सब वीर हैं। (यहाँ समस्त वीर क्षत्रिय आदि राजा एकत्र हैं, यथा—'*दीप दीपके भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥*' (१। २५१) वीरोंका ही समाज है, वीरसमाजमें वीरकी शोभा है, वहाँ वीर ही जाता है। अतः 'वीररस' का यहाँ आना कहा।)

प० प० प्र०—१ 'वीररस' को '*करनी कठिन*' के साथ जोड़नेसे भाव यह होता है कि वीरोंको कठिन करनी करनी पड़ती है, चाहे वे मुनि ही क्यों न हों। मुनिवेषमें वीर करनीसे उस वेषकी विडम्बना होती है, वैसे ही यहाँ भी होगी। शान्त और वीररस परस्पर विरोधी होनेपर भी यहाँ एकत्र हो गये हैं, यह दिखाकर जनाया कि स्वभाव बदल गया है। फिर क्या कहना! सहज अबल अबला जब प्रबल होती है तब क्या होता है, कैसा होता है, और क्या असम्भव है! एक सुविचारके सिवा दूसरा कुछ भी असम्भव नहीं!! '*का न करै अबला प्रबल?*' २—'*बरनि न जाइ सरूप*'—इसमें सात्त्विक भावका उद्रेक नहीं है। यह भयानक रसका परिपोषक है जैसा आगेकी अर्धालीसे स्पष्ट है।

नोट—१ प्रसन्नराघव नाटकमें भी इसी भावका श्लोक यह है—'**लक्ष्मणः (सकौतुकम्)। मौर्वी धनुस्तनुरियं च बिभर्ति मौञ्जीं बाणाः कुशाश्च विलसन्ति करे सितायाः। धारोज्ज्वलः परशुरेष कमण्डलुश्च तद्वीरशान्तरसयोः किमयं विकारः॥**' (४। १५)—लक्ष्मणजी आश्चर्यान्वित होकर कह रहे हैं—यह कौन है जो धनुषकी प्रत्यञ्चा और मूँजकी मेखला ऐसे शरीरपर धारण किये हुए है। इसके एक हाथमें तीखे-चोखे बाण और कुश हैं और दूसरे हाथमें उज्ज्वल धारवाला परशु और कमण्डलु है। अतः क्या यह शान्त और वीररस सम्मिलित कोई नया रूप तो नहीं है?

नोट—२ वीररस शरीरधारी नहीं होता। यह कविकी कल्पनामात्र है। यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

देखत भृगुपति बेषु कराला। उठे सकल भय बिकल भुआला॥ १॥
पितु समेत कहि कहि* निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥ २॥

अर्थ—परशुरामजीका भयंकर वेष देखते ही भयसे विकल सभी राजा उठ खड़े हुए॥ १॥ पितासहित अपना नाम कह-कहकर सब दण्डवत् प्रणाम करने लगे॥ २॥

नोट—१ राजाओंकी 'सारी तीसमारखानी हवा हो गयी' यह यहाँ भी लागू है। देखिये, कैसी '*बिलैया दण्डवत*' कर रहे हैं। (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—१ (क) '*देखि महीप सकल सकुचानें। बाज झपट जनु लवा लुकानें॥*' (२६८। ४) पर प्रसङ्ग छोड़ा था। बीचमें परशुरामजीका स्वरूप वर्णन करने लगे थे। अब फिर वहींसे प्रसङ्ग उठाते हैं—'*देखत भृगुपति बेषु कराला।*' देखकर सब सकुचा गये, सब विकल हुए और सब उठे, इसीसे दोनों जगह '*सकल*' पद देते हैं—'*देखि महीप सकल सकुचानें*' और '*उठे सकल भय बिकल।*' (ख) '*बेषु कराला*' का भाव कि स्वरूप सुन्दर है पर वेष कराल है। शस्त्रास्त्र, फरसा और धनुष-बाण धारण किये हुए हैं, यही 'करालता' है। यहाँ शंका होती है कि वेष तो 'शान्त' है तब 'कराल' कैसे हुआ? इसका समाधान यह है कि परशुरामजीकी करनी वीररसकी है, कठिन करनीके संयोगसे वेष भी कराल लगता है। अर्थात् वीर वेषके साथ शान्त वेष भयावन हो गया। (ग)—'*उठे सकल*' इति। प्रथम बहुत खड़बड़ (खलबली) मचाये हुए थे। परशुरामजीको आते देख दुबक गये थे, अब पुनः उठे। राजाओंका उठना दो बार कहा गया। एक तो '*उठि उठि पहिरि*

* निज निज कहि—१७०४। कहि कहि निज नामा—प्रायः अन्य सबोंमें।

सनाह अभागे।' (२६६। २) में, दूसरे यहाँ ***'उठे सकल।'*** इससे पाया गया कि धर्मात्मा राजाओंके धिक्कारने और समझानेसे बैठ गये थे, परशुरामजीके आनेपर पुनः उठे। अथवा, प्रथम उठे थे पर परशुरामजीको आते देख बैठ गये थे, कवचादि उतारने लगे थे और अब उनके आ जानेपर पुनः उठे। (कवचादि फेंक) उठकर खड़े हो गये, क्योंकि यदि न उठते तो समझा जाता कि इनको अपने क्षत्रियत्वका बड़ा गर्व है। भारी अपराधी समझकर परशुरामजी अवश्य वध कर डालेंगे—यह विचारकर सब उठे। (उठनेका कारण 'भय' आगे देते ही हैं—***'उठे सकल भय बिकल'***)—(घ) ***'भय बिकल'***—विकल होनेका भाव कि यदि निरपराध होते तो चाहे बच भी जाते पर हम सब अस्त्र-शस्त्र लिये हुए हैं। यह क्षत्रियपना देखकर अवश्य हमारा वध करेंगे यह सोचकर विकल हैं। (अस्त्र-शस्त्र तो छिपा दिये हैं, फिर भी वे रङ्गभूमिमें मञ्चोंके नीचे या इधर-उधर पड़े होंगे, सम्भव है कि दृष्टि पड़ जाय। परंतु भयका मुख्य कारण उनका कराल वेष और ***'विश्वविदित क्षत्रिय कुल द्रोही'***—'विरद' है। इसीसे भय हुआ और भय होनेसे व्याकुलता हुई।) आदिमें ***'देखत भृगुपति'*** देकर सूचित करते हैं कि परशुरामजीका तो नाममात्र सुननेसे क्षत्रियोंको भय होता है और यहाँ तो वे करालवेषसे सामने ही उपस्थित हैं अतः करालवेष देखकर इतने भयभीत हो गये कि व्याकुल हैं। (प्राणोंके लाले पड़े हैं।) सुननेसे देखनेमें विशेष भय होता ही है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—धनुष न टूटनेपर भी जो राजा लोग आशा लगाये अपने-अपने समाजमें बैठे हुए थे, राजा जनकके कहनेपर भी कि ***'तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥'*** उठे नहीं, सरकारके धनुष तोड़ने और जयमाल प्राप्त करनेपर भी विघ्न उपस्थित करनेके लिये बैठे-बैठे ***'लेहु छड़ाय सीय' 'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ'*** इत्यादि उत्तेजक वचन बोल रहे थे, भृगुपतिका कराल वेष देखकर उठ खड़े हुए। भयका संचार ही इनके उठनेका कारण हुआ, नहीं तो तपोमूर्ति विश्वामित्रजीके आनेपर भी ये खड़े नहीं हुए थे।

शङ्का हो सकती है कि पहिले ***'सांत बेषु करनी कठिन'*** कह आये हैं, यहाँ ***'कराल बेष'*** क्यों कहते हैं? यहाँ मर्म यह है कि परशुरामजी सदा शान्तवेषमें रहते हैं, क्रुद्ध होनेपर संग्रामके समय भी मुनिवेषका परित्याग नहीं करते, केवल संग्रामोपयोगी अस्त्र-शस्त्र धारण कर लेते हैं। अतः उस समय उनके वेषमें शान्ति और करालता दोनों दिखायी पड़ती है। इक्कीस बार पृथ्वीके निःक्षत्र करनेवालेका आगमन ही राजा लोगोंके लिये महाभयका कारण है, कि पुनः आज तो वेषमें करालता भी है, अतः भयसे विकल हो उठे मानो मृत्यु ही उपस्थित हो गयी, समझा कि बाईसवीं बार निःक्षत्र करनेका इन्हें भला अवसर प्राप्त हो गया, सब राजा इन्हें इकट्ठे ही मिल गये। अतः भयसे विकल होकर उठना कहा।

टिप्पणी—२ ***'पितु समेत कहि कहि निज नामा'*** इति। पितासमेत नाम लेनेका भाव कि—(क) यह प्रणाम करनेकी रीति है, यथा—***'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥'*** (५३। ७) देखिये। [इस परिपाटीका अवशेष वर्तमान समयमें श्रीरामेश्वरकी तरफ देखनेमें आता है। (प० प० प्र०) महाराष्ट्र, सौराष्ट्र आदिमें पुत्रके नामके साथ पिताका भी नाम जुड़ा रहता है, यह भी उसी परम्पराका पोषक है। इस प्रान्तमें भी पुराने लोगोंसे परिचय देनेमें अब भी यह रीति बरती जाती है] (ख) इसके अभ्यन्तर भीतरी अभिप्राय यह है कि बहुत-से क्षत्रिय परशुरामजीके सेवक हैं, इसीसे पिताका नाम लेते हैं कि आपने हमारे पितापर भी दया की थी, उनको दीन जानकर छोड़ दिया था, मैं उन्हींका पुत्र हूँ, मुझपर भी दया-दृष्टि बनी रहे]

नोट—१ (क) ***'पितु समेत'***—पं० रा० च० मिश्रजी कहते हैं कि जब परशुरामजीने क्षत्रियवंश नष्ट कर डाला तब ऋषियोंने वंश प्रवृत्त किया। राजा भयके मारे उन्हीं ऋषियोंका नाम ले-लेकर प्रणाम करने लगे। (ख) ***'कहि कहि'***से यह भी सूचित होता है कि भयसे व्याकुल होनेके कारण बारंबार पितासमेत अपना नाम कह रहे हैं।

टिप्पणी—३ ***'लगे करन सब दंड प्रनामा'*** इति। (क) ***'लगे करन'*** कहकर जनाया कि सब राजाओंने एक साथ प्रणाम नहीं किया। सब एक साथ कर भी न सकते थे, क्योंकि राजा बहुत थे, जितने राजाओंको अवकाश मिला उतनोंने प्रणाम किया। जब वे प्रणाम करके उठे तब औरोंको अवकाश मिला। ***'लगे करन'*** से प्रणाममें विलम्ब दिखाते हैं। सबने एक साथ प्रणाम किया होता तो 'किया'

ऐसा लिखते। (ख) *'सब'* दण्ड प्रणाम करने लगे, इस कथनसे जनाया कि प्रथम एकने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उस एकके करनेसे सभीको साष्टाङ्ग प्रणाम करना पड़ा। यदि पीछेवाले साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम न करते तो समझा जाता कि इनको बड़ा अभिमान है। (ग) *'दंड प्रनामा'* इति। *'दंड'* शब्द देकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम सूचित किया। साष्टाङ्ग प्रणाम किया अर्थात् दण्डाकार चरणोंपर पड़ गये।) चरणोंपर पड़ जानेसे वध न करेंगे, इस भावसे सबने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, क्योंकि धर्मशास्त्रमें लिखा है कि प्रपन्नको वध न करना चाहिये। आभ्यन्तरिक अभिप्राय तो यही है कि प्राण बचानेके लिये साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं, पर ऊपरसे यह भी दिखाते हैं कि हम सब ब्रह्मण्य हैं, ब्राह्मणोंको सदा पूजते-मानते हैं। (घ) *'दंड प्रनामा'* कहनेसे यह भी जना दिया कि सबने निरायुध होकर प्रणाम किया, क्योंकि बड़ेको निरायुध होकर (अस्त्र-शस्त्र उतारकर रखके) प्रणाम करना चाहिये, यथा—*'बामदेव बसिष्ठ मुनिनायक। देखे प्रभु महि धरि धनु सायक॥ धाइ धरे गुर चरन सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥'* (७। ५) (ङ) अपना नाम कहकर प्रणाम करनेसे प्रणामके आठों अङ्ग पूर्ण हो गये। यथा—**'दोर्भ्यां पद्भ्यां च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा। मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः।'** [आह्निकसू० पृष्ठ १४४ पूजा-प्रसङ्गमें श्लोक इस प्रकार है—**'उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा। पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते॥'**]; तात्पर्य कि प्रणाम करनेमें मन, वचन और कर्म तीनों लगाये हैं। मनसे तो प्रणाम प्राण बचानेके लिये है, मुखसे पितासमेत नाम कहते हैं और कर्म (तन) से चरणोंपर पड़े हैं।

जेहि सुभाय * चितवहिं हितु जानी। सो जानैं जनु आइ † खुटानी॥ ३॥
जनक बहोरि आइ सिरु नावा। सीय बोलाइ प्रनामु करावा॥ ४॥
आसिष दीन्हि सखीं हरषानीं। निज समाज लै गईं सयानीं॥ ५॥

शब्दार्थ—**'आइ'** (आयु)=जीवन-काल उम्र, जिंदगी। **'खुटानी'**-खोटी पड़ गयी, चुक गयी, समाप्त हो गयी, कम हो गयी।

अर्थ—जिसको स्वाभाविक ही हित जानकर देखते हैं, वह ऐसा समझता है (उसे ऐसा जान पड़ता है) मानो (मेरी) आयु खोटी पड़ गयी वा चुक गयी॥ ३॥ फिर जनकजीने आकर सिर नवाया और सीताजीको बुलाकर प्रणाम कराया॥ ४॥ (परशुरामजीने) आशीर्वाद दिया। सखियाँ प्रसन्न हुईं। (फिर) सयानी सखियाँ उनको अपने समाजमें ले गयीं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'जेहि सुभाय चितवहिं'''* इति। (क) *'जेहि चितवहिं'* से जनाया कि राजाओंके साष्टाङ्ग प्रणाम करनेपर वे किसीको भी आशीर्वाद नहीं दे रहे हैं, केवल उनकी ओर देख देते हैं; सो भी सबकी ओर नहीं देखते, केवल उसीकी ओर दृष्टि डाल देते हैं जिसको 'हितू' जानते हैं। (ख)—*'सुभाय चितवहिं हितु जानी'* इति। भाव कि जब राजा चरणोंपर पड़ते हैं तब स्वभावसे हित जानकर *'चितवते'* (उसकी ओर देख देते) हैं। तात्पर्य कि वे राजाओंको कभी हित जानकर नहीं 'चितवते' पर चरणोंपर पड़नेसे हित जानकर उनकी ओर देखा। हित जानकर देखते हैं अर्थात् मारनेके लिये नहीं देखते किंतु कृपादृष्टि डाल रहे हैं। देखभर देते हैं, आशीर्वाद नहीं देते क्योंकि राजाओंसे वैर मानते हैं। (ग) *'सो जानैं जनु आइ खुटानी।'* इति। हित जानकर देखते हैं, मारनेके लिये नहीं, तब वह यह कैसे समझ लेता है कि हमारे प्राणोंपर आ बनी, आयु चुक गयी, हमें मारनेके लिये ही हमारी ओर इन्होंने दृष्टि डाली है? बात यह है कि परशुरामजीने सबकी ओर नहीं देखा, किसी-किसीकी ही ओर दृष्टिपात किया है, इसीसे जिसकी ओर वे देखते हैं उसको यही भ्रम होता है कि मेरे मारनेके लिये ही मुझे देख रहे हैं। पुनः हित चितवन अहित जान पड़नेका कारण यह भी है कि परशुरामजीकी स्वाभाविक चितवन भी क्रोध-सूचक ही होती है, यथा—*'भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहु चितवत मनहुँ रिसाते॥'* (२६८। ६) पुनः सब राजा

* सुभाय—१७०४। † आयु-को० रा०। आइ— १६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, गौड़जी।

सुन चुके हैं कि परशुरामजी पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर देनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, इससे अपने ऊपर उनकी दृष्टि पड़ी देखकर अपनी आयु पूर्ण हुई जानते हैं। (घ) यहाँ असिद्ध विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। (वीर)

टिप्पणी—२ '*जनक बहोरि आइ सिरु नावा।*……' इति। (क) सब राजाओंके पीछे श्रीजनकजीके आने और प्रणाम करनेका भाव कि सब राजा तो भयसे व्याकुल हैं, इसीसे वे तुरत आ-आकर चरणोंमें गिरने लगे, इसी कारण जनकजीको अवकाश न मिला, पीछे अवकाश मिला तब आकर प्रणाम किया। ['*आइ*' में यह भी भाव है कि '*जहँ सब भूप*' थे वहाँ ये न थे। (व्यापक)] (ख) '*सिरु नावा*' इति। सब राजाओंका 'दण्ड प्रणाम' करना कहा गया और जनकमहाराजका केवल 'सिर' नवाना कहा। यह भेद साभिप्राय है। इससे सूचित करते हैं कि सब राजाओंकी तरह जनकजीको भय नहीं है (इनको भय नहीं है क्योंकि ये ज्ञानी हैं)। (ग) सब राजाओंने अपने-अपने पिताका नाम लेकर प्रणाम किया पर राजा जनकके सम्बन्धमें न तो पिताका नाम लेना कहा गया और न अपना ही। इससे सूचित हुआ कि पितासहित अपना नाम तब लिया जाता है जब चिन्हारी अर्थात् पहलेसे जान-पहचान वा परिचय न हो, पहचनवानेके लिये पिताका नाम लिया जाता है। परशुरामजी श्रीजनकजीको (और उनके पुरखों देवरातजी आदिको) अच्छी तरह जानते हैं। (शिवजीका पिनाक जो तोड़ा गया उसकी कथामें इसकी चर्चा आयी है। वाल्मी० १ । ७५। में परशुरामजीने श्रीरामजीसे स्वयं कहा है—'**अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तदा। धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः॥ २०॥ देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम्।**' अर्थात् 'ऋषियोंसहित देवताओंने विष्णुके धनुको अधिक पराक्रमी समझा। इसपर महादेवजीने क्रुद्ध होकर अपना धनुष विदेह देशके महायशस्वी राजर्षि देवरातके हाथमें बाणसहित दे दिया।' और श्रीजनकमहाराजको भी जानते ही हैं। जैसा उनके वचनोंसे स्पष्ट है—'*कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा*' इसीसे पिताका अथवा अपना नाम भी बतानेका कोई प्रयोजन नहीं है। (घ) '*सीय बोलाइ प्रनामु करावा*' इति। बुलाया क्योंकि वे रानियोंके पास थीं, यथा—'*कोलाहल सुनि सीय सकानी। सखी लवाइ गइ जहँ रानी।*' (२६७ । ५) वहाँसे बुलाकर प्रणाम कराया। अर्थात् श्रीपरशुरामजीके चरणोंपर 'मेल दिया', जैसे विश्वामित्रजीने '*पद सरोज मेले दोउ भाई।*' सीताजीको प्रणाम करानेमें भाव यह है कि इन्हींके लिये धनुष टूटा, यह अपराध क्षमा करें और आशीर्वाद दें। आसिष देनेके बाद फिर शाप न देंगे। (विवाह हुआ है। विवाहके पश्चात् देवी, देवता, संतोंका आशीर्वाद लिया जाता ही है)। [इसमें विदेहराजकी दूरदृष्टि, नीति-निपुणता और प्रसंगावधान इत्यादि गुणोंका प्राकट्य होता है। परशुरामजीका कराल स्वरूप देखनेसे वे जान गये थे कि आगे क्या होगा। उस भावी संकटसे छूटनेके लिये वे सरल, सुगम और हितकारी युक्तिका अवलम्ब कर रहे हैं। कारण कि प्रणाम करनेपर शुभाशीर्वाद तो मिलेगा ही। न दें तो उनकी तपश्चर्य्या भङ्ग हो जायगी, यह वे बराबर जानते थे। और उस कालमें मुनियोंका आशीर्वाद मिथ्या नहीं होता था।—'*देबि न होइ मुधा मुनि भाषा।*' (२। २८५) और अन्तमें हुआ भी ऐसा ही (प०प०प्र०)] (ङ) परशुरामजीने जनकजीको भी प्रणाम करते समय आशीर्वाद न दिया, जैसे और राजाओंको भी न दिया था, इससे जनाया कि उनका प्रेम किसी राजामें नहीं है। इनके लिये जैसे सब राजा, वैसे ही श्रीजनकजी भी।

टिप्पणी—३ '*आसिष दीन्हि सखी हरषानीं।*……' इति। (क) परशुरामजीने किसी राजाको आशीर्वाद न दिया, पर श्रीजानकीजीको और श्रीराम-लक्ष्मणजीको आशीर्वाद दिया, यह क्यों ? इसमें केवल श्रीरामजीकी प्रेरणा ही प्रधान है, यथा—'*सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।*' (७। ११३) अथवा, रूप देखकर मग्न हो गये, इससे प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। (ख) '*सखीं हरषानीं*' इति। हर्ष होनेका कारण यह है कि आसिष मिलनेकी आशा न थी, किन्तु शापका भय था। आशीर्वाद पानेसे हर्ष हुआ, इससे ज्ञात होता है कि श्रीजानकीजीको अत्यन्त अनुकूल आशीर्वाद दिया गया, जैसे कि 'सौभाग्यवती सावित्री भव' इत्यादि, इसीसे सखियाँ हर्षित हुईं कि अब श्रीरामजीको कुछ भय नहीं है (इससे श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनोंका कल्याण निश्चित हुआ। प्र० सं०)। (ग)—'*निज समाज लै गईं सयानीं*' इति।

ले जानेके कारण ये हैं कि एक तो परशुरामजीके आनेसे सभी खड़े हैं जिससे वहाँ बड़ी भीड़ है, उस समाजमें (राजाओंकी भीड़में) खड़े रहना उचित न समझा, अतः निज समाजमें लिवा ले गयीं। दूसरे आशीर्वाद मिल ही चुका, अब वहाँ ठहरनेका काम ही क्या? तीसरे, यह सोचकर ले गयीं कि आशीर्वाद तो दे दिया है, आगे धनुष टूटा हुआ (पड़ा देखकर) सुनकर क्रोध करेंगे, नजरके सामने रहनेसे आगे न जाने क्या कह दें, कहीं इन्हींको धनुर्भंगका प्रधान कारण समझ कोप न करें; अतः ले गयीं। समय और समाजको पहचाना, अतः *'सयानीं'* विशेषण दिया।

विश्वामित्रु मिले पुनि* आई। पद सरोज मेले दोउ भाई॥ ६॥
राम लषनु दसरथ के ढोटा। दीन्हि† असीस देखि भल जोटा॥ ७॥
रामहि चितइ रहे थकि‡ लोचन। रूप अपार मार मद-मोचन॥ ८॥

अर्थ—फिर विश्वामित्रजी आकर मिले और परशुरामजीके चरण-कमलोंमें दोनों भाइयोंको डाल दिया अर्थात् प्रणाम कराया॥ ६॥ (और बताया कि ये) राम और लक्ष्मण दशरथजीके पुत्र हैं। (परशुरामजीने) भली जोड़ी देखकर आशीर्वाद दिया॥ ७॥ कामदेवके मदको छुड़ानेवाले अपार रूपवाले श्रीरामजीको देखकर (उनके) नेत्र स्थिर हो गये। अर्थात् पलकोंका पड़ना बंद हो गया॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'विश्वामित्रु मिले पुनि आई।.....'* (क) *'पुनि'* अर्थात् श्रीजनकजीके पश्चात् जब श्रीजानकीजीको आशीर्वाद मिल गया और सखियाँ उनको लिवा ले गयीं, तब। (ख) विश्वामित्रजीका आकर मिलना कहा, क्योंकि परशुरामजीका और इनका नाता है। इनकी बहिन कौशिकीजी महर्षि ऋचीकजीको ब्याही थीं। ऋचीकजीके पुत्र जमदग्निजी थे और जमदग्निजीके पुत्र परशुरामजी हैं। इस प्रकार परशुरामजी विश्वामित्रजीकी बहिनके नाती (पौत्र) हैं। इसीसे परशुरामजीको प्रणाम करना नहीं लिखा गया, किंतु उनसे मिलना (गले लगकर भेंट करना) कहा गया। [दूसरे, अब ये क्षत्रिय नहीं हैं, अब तो ये ब्रह्मर्षि हैं, ब्राह्मण हैं। अतः मिलना कहा। परशुरामजी कौशिकजीके भानजेके पुत्र हैं और ब्रह्मर्षि हैं, इस नातेसे उनको चाहिये था कि विश्वामित्रजीको प्रणाम करते, पर अभिमानवश उन्होंने कर्तव्यका पालन न किया, मुनि ही उनसे आकर मिले, क्योंकि दोनों राजकुमारोंको आशीर्वाद दिलाना है। (प्र० सं०) अथवा इस समय धनुर्भंगके कारण क्रोधमें भरे होनेसे परशुरामजीने प्रणाम न किया। विश्वामित्रजी इस समय दशरथजीके स्थानपर हैं, इससे भी इनका स्वयं जाकर मिलना उचित ही है।] (ग) *'पद सरोज मेले दोउ भाई'* इति। श्रीराम-लक्ष्मणजीका परशुरामजीके चरणोंमें भाव है, इसीसे चरणोंकी बड़ाई करते हैं। (दोनों ब्रह्मण्य हैं। ब्राह्मणके चरणोंमें प्रणाम करते हैं। इनके चरणोंमें प्रणाम किया है, इसीसे कवि परशुरामजीके चरणोंको कमल विशेषण देते हैं) दोनों भाई अभी लड़के हैं, इसीसे विश्वामित्रजीका उनको चरणोंमें 'मेलना' कहा, यथा—*'पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥'* (२०७। ५) (घ) विश्वामित्रजी समय (सुअवसर) के जानकार हैं, इसीसे उन्होंने राजाओंके साथ श्रीराम-लक्ष्मणजीसे प्रणाम नहीं कराया। जब जनकमहाराजने अपनी पुत्रीको बुलाकर प्रणाम कराया और परशुरामजीने आशीर्वाद दिया, (प्रथम-प्रथम श्रीजानकीजीको ही आशीर्वाद मिला। अतएव मुनि इसे शुभ अवसर जानकर) उसी समय दोनों भाइयोंको लेकर मिलने आये और प्रणाम कराया कि हमारे लड़कोंको भी इसी प्रकार आशीर्वाद दे दें। (उधर जनकजी पिता, इधर विश्वामित्रजी पिताके स्थानपर। यथा—*'तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ।'* [इसमें यह दिखानेका भाव है कि विश्वामित्र-जैसे महामुनि प्रतिसृष्टिकर्ता इनके पालक हैं। (प०प०प्र०)]

टिप्पणी—२ *'राम लषनु दसरथ के ढोटा।.....'* इति। (क) परशुरामजी श्रीराम-लक्ष्मणजीको नहीं जानते, इसीसे विश्वामित्रजी पितासमेत दोनों भाइयोंका नाम बताते हैं। पूर्व जो *'पितु समेत कहि कहि निज नामा'* कहा था उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट करते हैं कि प्रथम अपना नाम लेते हैं, पीछे पिताका;

* तब—१७०४। † देखि असीस दीन्ह—१७०४, को० रा०। ‡ भरि १७०४।

जैसे विश्वामित्रजीने लिया है। (ख) *'दीन्हि असीस देखि भल जोटा'* इति। *'भल जोटा'* अर्थात् सुन्दर जोड़ी देखकर आशीर्वाद देनेका भाव कि मुनिने कहा था कि ये राजा दशरथजीके पुत्र हैं, परंतु परशुरामजीने इनको दशरथपुत्र जानकर आशीर्वाद नहीं दिया, (राजाओंके तो वे वैरी ही हैं तब राजकुमारोंको वे आशीर्वाद क्यों देने लगे, किसी राजाको नहीं दिया।) किंतु सुन्दर जोड़ी देखकर। अर्थात् सुन्दर जोड़ीको देखकर मुग्ध हो गये, रूपपर मोहित हो गये, इससे आशीर्वाद दिया। पुनः सुन्दर 'जोड़ी देखकर आशीर्वाद दिया,' इस कथनसे सूचित किया कि यही आशीर्वाद दिया कि 'दोनों भाइयोंकी जोड़ी बनी रहे, दोनों भाई चिरजीवी हों।'

टिप्पणी—३ *'रामहि चितइ रहे थकि लोचन'*…… 'इति। (क) ☞ प्रथम जोड़ीकी सुन्दरता देखकर आशीर्वाद दिया। अब केवल श्रीरामजीको देखकर नेत्र थकके रह गये। (स्थगित व स्तम्भित हो गये)। कारण कि श्रीरामजी सब भाइयोंसे अधिक सुन्दर हैं, यथा—*'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'* (१९८। ६) (स्थगित हो रहनेका कारण अगले चरणमें बताते हैं)। (ख) *'रूप अपार मार मद-मोचन'* इति। रूप अपार है, अर्थात् उसका पारावार नहीं है—**'पारावारः सरित्पतिः'** इति (अमरकोश)। अपार कहकर उसे *'छबि समुद्र'* जनाया, यथा—*'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी।'* (१४७। ५) रूप अपार है, इसीसे लोचन थककर रह गये, उसका पार न पा सके, यथा—*'थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरीं निमेषे।'* (२३२ । ५) *'सील सुधा के अगार, सुषमा के पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं। लोचन ललकि लागे, मन अति अनुरागे, एक रसरूप चित सकल सभा के हैं॥'* (गीतावली १। ६२। ३) *'थके नारि नर प्रेम पियासे।'* (ग) *'अपार'* देहलीदीपक है। रूप अपार है और *'अपार मार'* के मदको छुड़ानेवाला है, यथा—*'कोटि काम उपमा लघु सोऊ।'*

नोट—१ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'परशुरामजीने यज्ञोपवीत होनेपर विद्या पढ़ी, मरीचि मुनिसे षडक्षर मन्त्र ले, शालग्राम—अचलमें जाकर उन्होंने तपस्या की। रघुनाथजीने प्रसन्न हो प्रकट होकर इनको फरसा दिया और अपनी शक्ति प्रवेश करके अपना नाम दिया। उसी बलसे उन्होंने क्षत्रियोंका नाश किया। जो रूप ध्यानमें था वही सामने आया, इसीसे वृत्ति रूपमें लग गयी, पर क्रोधवश होनेसे वह वृत्ति भी गयी।' [पर महाभारत शान्तिपर्वमें लिखा है कि परशुरामजीने गन्धमादनपर्वतपर श्रीशिवजीको प्रसन्न कर उनसे अनेक दिव्यास्त्र और अत्यन्त तेजस्वी परशु प्राप्त किया। क्षत्रियोंका अत्याचार दबानेके निमित्त इनका अवतार हुआ था। भालपर त्रिपुण्ड्र भी शिवजीके सेवक होनेकी साक्षी दे रहा है और आगे कहा भी है *'गुरु रिन रहा सोच बड़ जीके।'*]

नोट—२ नाटकीय और वैज्ञानिक कलामें *'रामहि चितइ रहे'*…… ' यह अर्धाली बड़े मार्केकी है। यही कारण था कि क्रोध होनेपर भी हाथ नहीं चला। परंतु स्मरण रहे कि यह बात दैवी सम्पत्तिके कारण है, नहीं तो आसुरी सम्पत्तिसे जब पाला पड़ा तब खर-दूषणादिपर सुन्दरताका प्रभाव पड़ते हुए भी संग्राम रुक न सका। ठीक है, आसुरी सम्पत्तिके सामने अहिंसा व्यर्थ जाती है। दुर्गासप्तशतीमें भी कविने लिखा है कि आश्चर्य है कि देवीका सुन्दर रूप देखकर भी असुर प्रभावान्वित न हुए और संग्राम किया। (यह अन्तर महाकाव्य-कला और नैतिक कला दोनों दृष्टिकोणसे विचारणीय है।) फिर *'मद-मोचन'* की संकेतकला देखिये। वह कितनी मजेदार (रसीली) है पर 'मार' के साथ मिलकर कितनी गुप्त है कि नाटकीय कलाका मजा न जाय। (लमगोड़ाजी)

दो०—बहुरि बिलोकि बिदेह सन कहहु काह* अति भीर।
पूँछत जानि अजान जिमि ब्यापेउ कोपु सरीर॥ २६९॥

* कहा—१७०४। काह—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

शब्दार्थ—**काह**=किस कारण।—यह अर्थ राजाके उत्तरसे स्पष्ट है, यथा—'*समाचार कहि जनक सुनाए। जेहि कारन महीप सब आए॥*'=क्यों, क्या, कैसी।

अर्थ—फिर विदेहराजको (उनकी ओर) देखकर जानते हुए भी अनजानेकी तरह पूछते हैं—कहो यह बड़ी भारी भीड़ कैसी है, क्या है, अर्थात् किस निमित्त हुई है? उनके शरीरमें कोप व्याप्त हो गया है॥ २६९॥

टिप्पणी—१ (क) '*बहुरि बिलोकि बिदेह*' इति। भाव कि परशुरामजी श्रीरामजीको टकटकी लगाये देख रहे थे—'*रामहि चितइ रहे थकि लोचन।*' जब उधरसे दृष्टि हटे तब पूछनेकी सुध हो। इसीसे विदेहजीकी ओर पुनः देखना कहकर तब पूछना लिखते हैं।—['*बहुरि*' शब्दमें परदेके-से कटनेका मजा है। माधुर्य और शान्तरस विदा होते हैं और रौद्ररस आता है। (लमगोड़ाजी)] (ख) विदेहसे पूछते हैं क्योंकि इन्हींके नगरमें सब राजाओंकी भीड़ है, जिससे निश्चित होता है कि इन्हींके बुलानेसे सब आये हैं। (ग) '*अति' भीर*' का भाव कि राजाओंके यहाँ सामान्यतः भीड़ रहती ही है, किंतु आज असाधारण भीड़ है, अतः उसका कारण पूछा। (घ)—'*जानि अजान जिमि*' इति। परशुरामजी भीड़का कारण जानते हैं, यथा—'*तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा॥*' (२६८। २) (वाल्मीकिजी लिखते हैं कि परशुरामजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा था कि मैंने तुम्हारा अद्भुत पराक्रम और धनुष तोड़नेका सब वृत्तान्त सुना है, यथा—'**राम दाशरथे वीर वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम्। धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम्॥ तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्तथा। तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम्।**' (१। ७५। १-२*) '*अजान जिमि*'—अनजानेकी तरह पूछनेमें भाव यह है कि राजा यह समझकर कि परशुरामजी नहीं जानते, सब वृत्तान्त कहेंगे तब इनके ऊपर अपराध साबित होगा, जनकजीके मुखसे उनका अपराध कहलाकर उन्हें दोषी ठहराकर उनको मारें। (ङ) '*ब्यापेउ कोप सरीर*' इति। पहले ही रिस लिख आये हैं, यथा—'*रिषि बस कछुक अरुन होइ आवा।*' अब यहाँ पुनः लिखते हैं कि '*ब्यापेउ कोपु सरीर।*' भाव यह है कि प्रथम जो कोप था वह श्रीरामजीकी अपार छबिको देखकर विस्मृत हो गया था, अब जब जनकजीसे धनुषसम्बन्धी वार्ता करने लगे तब धनुषका स्मरण हो आनेसे पुनः कोप हो आया। अथवा, प्रथम बार कोप मुखमात्रमें व्याप्त था, यथा—'*सीस जटा ससि बदन सुहावा। रिस बस कछुक अरुन होइ आवा॥*' और अब शरीरभरमें व्याप गया, अर्थात् सारा शरीर कोपसे लाल हो गया। सारे शरीरमें क्रोधकी ललाई दौड़ गयी। कोप व्यापनेका स्वरूप दोहेके पूर्वार्धमें झलक रहा है कि कोई सम्बोधन (हे जनक! राजन्! इत्यादि) नहीं है। कोपमें कोमलालाप नहीं होता, वही हाल यहाँ है। [अन्तिम चरण भावमर्मज्ञताका बड़ा सुन्दर उदाहरण है। (लमगोड़ाजी) धनुषयज्ञ अभी कहा नहीं गया पर क्रोधरूपी कार्य पहले ही शरीरमें व्याप्त हो गया। अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार है। (वीर)]

प० प० प्र०—१ धनुर्भङ्गकी वार्ता सुननेपर तो आये हैं, इससे स्पष्ट है मुनियोंकी भी स्मृति क्रोधसे भ्रष्ट हो जाती है, फिर विषयी लोगोंकी तो बात ही क्या? २ '*ब्यापेउ कोप ....*।' भाव कि अभीतक तो क्रोध केवल भृकुटी और नेत्रोंमें ही था। मुखमण्डलपर झलकनेवाली क्रोधजनित अरुणिमा पहले तो सोच बढ़ानेवाली थी और अब तो नखशिखान्त क्रोधने अपना साम्राज्य बनाया। अर्थात् मुनि आपेसे बाहर हो गये, मुनित्व खो बैठे। कहा ही है '*करै क्रोध जिमि धर्महि दूरी।*' इससे जप, तप, व्रत नियमोंका और समका अभाव होना बताया। आगे ब्राह्मणके नव गुणोंसे भृगुपति कैसे विहीन हो गये यह बताया जायगा।

समाचार कहि जनक सुनाए। जेहि कारन महीप सब आए॥ १॥
सुनत बचन फिरि† अनत निहारे। देखे चाप खंड महि डारे॥ २॥
अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै‡ तोरा॥ ३॥

---

* द्वितीय संस्करणमें दूसरा श्लोक था।

† तब— १७०४ को० रा०। फिरि—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

‡ केहि—१७०४। केइँ—१७२१, छ०, को० रा०। कैं—१६६१, १७६२।

शब्दार्थ—**अनत**=अन्यत्र। यह अन्यत्रका अपभ्रंश है।

अर्थ—श्रीजनकजीने सब समाचार कह सुनाया, जिस कारण सब राजा आये थे॥ १॥ (समाचारके) वचन सुनकर (उन्होंने) फिरकर दूसरी ओर देखा (तो) धनुषके टुकड़े पृथ्वीपर डाले (फेंके पड़े) हुए देखे॥ २॥ (वे) अत्यन्त क्रोधसे कठोर वचन बोले—रे जड़ जनक ! कह, धनुष किसने तोड़ा?॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'समाचार कहि जनक सुनाए ……'* इति। (क) *'कहि सुनाए'* से जनाया कि सब समाचार विस्तारसे कहा, जिसमें फिर कुछ पूछनेका प्रयोजन न रह जाय। समाचार यह कि एक समय जानकीने धनुष उठाकर उसके नीचेकी भूमि शुद्ध की। जो धनुष तोड़े वह जानकीजीको ब्याहे, [अथवा, जो धनुष चढ़ावे वह सीताको ब्याहे यह कहा। दो बार स्वयंवर हो चुका। यह तीसरी बार है।—(पं०)] इस विचारसे सब राजा स्वयंवरमें आये हैं। यह नहीं कहा कि हमने प्रण किया था, नहीं तो परशुरामजी धनुष तोड़नेवालेको न पूछते, श्रीजनकजीको ही मारते। [जान पड़ता है कि श्रीजनकमहाराजने और सब वृत्तान्त बता दिया था, केवल दो बातें छिपा रखी थीं—एक तो धनुषका टूटना, दूसरी उसके तोड़नेवालेका नाम। (प्र० सं०) परशुरामजीने जितना प्रश्न किया उतना ही उत्तर राजाने दिया। उन्होंने न तो धनुषके टूटनेका प्रश्न किया, न तोड़नेवालेका नाम पूछा, अतः ये उसे अपनी ओरसे क्यों कहते?] (ख) *'जेहि कारन महीप सब आए'* इति। *'काह अति भीर'* परशुरामजीके इस प्रश्नका अर्थ यहाँ खोला। वहाँ प्रश्नमें *'काह'*, यहाँ उत्तरमें *'जेहि कारन'*, वहाँ *'अति भीर'*, यहाँ 'सब महीपका आगमन।'

टिप्पणी—२ *'सुनत बचन फिरि ……'* इति। (क) सुनते ही फिरकर अन्यत्र देखनेका भाव कि जनकजीके वचनोंमें धनुष तोड़नेका समाचार था। (उसके टूटने और तोड़नेवालेका नहीं), इसीसे जिधर धनुष था उधर फिरकर देखा। इससे स्पष्ट है कि जनकजीने राजाओंके आनेका कारणमात्र कहा था, केवल उपर्युक्त दो बातें न कही थीं। इसीसे परशुरामजीने वचन सुनकर धनुषकी ओर देखा और धनुष तोड़नेवालेका नाम पूछा, नहीं तो फिरकर देखनेका ही प्रयोजन न था और न नाम पूछनेका। (ख) [*'खंड महि डारे'*—मानो खण्ड देखकर टूटना जाना। *'पूछत जानि अजान जिमि'* पूर्व कह ही आये हैं। *'महि डारे'* शब्दोंसे धनुषका निरादर सूचित होता है।]

टिप्पणी—३ *'अति रिस बोले बचन कठोरा ……'* इति। (क) *'अति रिस'* का भाव कि रिस तो प्रथमसे ही थी। यथा—*'रिस बस कछुक अरुन होइ आवा।'* (२६८। ५) *'ब्यापेउ कोपु सरीर।'* (२६९) [अथवा, क्षत्रियोंपर साधारणतया रिस तो सदा रहती ही है—(रा० प्र०)] अब धनुषको टूटा देखनेपर *'अति रिस'* हुई। *'अति रिस'* होनेसे *'बोले बचन कठोर'* क्योंकि कठोर वचन ही क्रोधका बल है, यथा—*'क्रोधके परुष बचन बल मुनिवर कहहिं बिचारि।'* (३। ३८) क्रोधका स्वरूप आगे दिखाते हैं—वह यह कि परशुरामजीने प्रथम (जनकजीके लिये) बहुवचन क्रियाका प्रयोग किया था, यथा—*'बहुरि बिलोकि बिदेह सन कहहु ……।'* *'कहहु'* बहुवचन (अथवा, आदरसूचक शब्द) है। अब *'अति रिस'* से एकवचन *'कहु'* का प्रयोग कर रहे हैं—*'कहु जड़ ……।'* (ख) *'बचन कठोरा'*—श्रीजनकजी ऐसे महात्माके लिये एकवचनका प्रयोग 'कठोर' है। ऐसे ज्ञानी और योगीश्वर श्रीरामजीमें गूढ़ स्नेह रखनेवाले सन्तको *'जड़'*, *'मूढ़'* संबोधन *'अति कठोर'* है।

प० प० प्र०—*'बचन कठोरा'* इति। यहाँ 'दम' का विनाश बताया। विदेहराजके लिये जड़, मूढ़ इत्यादि शब्दोंका प्रयोग करनेमें दमका अभाव स्पष्ट देख पड़ता है। जनकके समान ब्रह्मनिष्ठ विश्वप्रथितयश महात्माकी निन्दा करनेमें वागिन्द्रियपर काबू न रहा यह स्पष्ट है। परुष वचन बोलना असन्तोंका लक्षण है। संत-मुनि-साधु *'परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं।'* संतनिन्दासे अखिल कल्याणकी हानि होती है। इससे तपश्चर्याका भी विनाश बताया है। लक्ष्मणजी भी मिथिलेशजीपर बिगड़े थे पर उनके मुखारविन्दसे कोई अपशब्द न निकला था। *'कही जनक जसि अनुचित बानी'* से ही काम निबह गया था।

टिप्पणी—४ *'कहु जड़ जनक'* इति। *'जड़'* कहनेका भाव कि शिवधनुषकी रक्षा और पूजा करनी

चाहिये थी, सो न करके उसे तुड़वानेका मन किया, यह तेरी जड़ता है, मूर्खता है। अथवा, *'जड़'* को *'धनुष'* का विशेषण मान लें। बाबा हरिहरप्रसादजी और रा० च० मिश्रजी इसे *'धनुष'* और तोड़नेवालेका विशेषण मानते हैं। अर्थात् *'केहि जड़ जड़ धनुष तोरा'* इस तरह अन्वय होगा। किसीने कहा है—*'कमठ पीठ ते कठिन अति त्रिपुर हतेउ जेहि तानि। येहू ते जड़ कवन नर जो धनु तोरेउ आनि॥'* (प्र० सं०)]

बेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटौं महि जहँ* लहि तव राजू॥ ४॥
अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं॥ ५॥
सुर मुनि नाग नगर नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी॥ ६॥

शब्दार्थ—लहि=पर्यन्त, तक,यथा—*'आवहु करहु कदरमस साजू। बढ़हिं बजाइ जहाँ लहि राजू॥'* (जायसी) **'जहँ लहि तव राजू'**=जहाँतक तेरा राज्य है। अर्थात् राज्यभर, सारी प्रजा।

अर्थ—अरे मूढ़! (वा, उस मूढ़को) शीघ्र दिखा, नहीं तो आज ही जहाँतक तेरा राज्य है वहाँतककी पृथ्वी उलट दूँगा॥ ४॥ अत्यन्त डरके मारे राजा उत्तर नहीं देते। कुटिल राजा मनमें हर्षित हुए॥ ५॥ देवता, मुनि, नाग और नगरके स्त्री-पुरुष सभी शोच कर रहे हैं। सभीके हृदयमें भारी डर है॥ ६॥

नोट—१ परशुरामजीकी इस क्रोधभरी भाषासे हमारी सहानुभूति तुरंत ही श्रीजनकजीकी ओर हो जाती है। नाटकीय कलाके मर्मज्ञ खूब जानते हैं कि अति क्रोध मनुष्यको स्वयं ही निर्बल बना देता है। यह संकेत भी परशुरामजीकी हारके लिये कितना सुन्दर है। (लमगोड़ाजी। हास्यरस)

टिप्पणी—१ *'बेगि देखाउ मूढ़—'* इति। (क) *'बेगि देखाउ'* कहनेका भाव कि जब परशुरामजीके *'कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा'* इस प्रश्नपर राजा न बोले तब उन्होंने कहा कि *'बेगि देखाउ'* उसे शीघ्र दिखा। पुनः *'बेगि'* का दूसरा भाव कि शीघ्र दिखा, नहीं तो ऐसा न हो कि कहीं भाग जाय। (ख) *'देखाउ'*—दिखानेको कहा, क्योंकि यदि नाममात्र बताया गया तो भारी भीड़में ढूँढ़े मिलना कठिन है। दूसरे, ढूँढ़नेमें देर लगेगी, इतनेमें सम्भव है कि कहीं छिप रहे या भाग जाय। अतः कहते हैं कि आँखोंसे दिखा दो। (ग) *'मूढ़'*—भाव कि जो बिना विचारे काम करे वह मूढ़ है (तुमने विचार न किया कि श्रीशिवजीके धनुषको तुड़वाना चाहिये था या उसकी पूजा करनी चाहिये थी।) पुनः भाव कि तुझे मोह हो गया है, इसीसे नाम नहीं बताता कि कन्या विधवा हो जायगी। मायामोह होनेसे तू मूढ़ है। यथा—*'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा।'* *'आज'* कथनका भाव कि धनुष आज तोड़ा है, इसलिये उसे आज ही मारूँगा और यदि तू न बतायेगा तो आज ही तेरा राज्य उलट दूँगा। (घ) *'उलटौं महि जहँ लहि तव राजू'* इति। राज्यभरकी भूमि उलटनेकी धमकी यह समझकर दे रहे हैं कि राजा जनक धर्मात्मा हैं। पृथ्वीका उलटाना सुनकर वे तुरत बतायेंगे, क्योंकि इन वचनोंसे उनके चित्तमें तुरत यह विचार स्फुरित होगा कि हमारे न बतानेसे राज्यभरके प्राणी मरेंगे जिससे हमको बड़ा पाप होगा। जिस राजाको प्रजा प्राणोंके समान प्रिय न हो वह राजा शोचनीय है। यथा—*'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥'* (२। १७२। ४) *'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥'* (२। ७१। ६)—ऐसा विचार आते ही धर्मात्मा राजा सारी प्रजाका नाश कब सह सकेगा? अतएव तुरत तोड़नेवालेको लाकर सामने कर देगा। पुनः (*'उलटौं महि—'* का दूसरा भाव कि यदि राजा न बतावें तो भी वह इस राज्यके भीतर ही तो कहीं होगा। सारा राज्य उलट देनेसे सबके साथ वह भी दबकर मर जायगा, अपना कार्य तो सिद्ध ही हो जायगा।)

नोट—१ पृथ्वीका उलटना वैसे ही है जैसे भूकम्पादिद्वारा पृथ्वीके सब घर और जीव भीतर धँस जाते हैं, कहीं-कहीं जल ऊपर आ जाता है, पूर्वकी पृथ्वीका नामोनिशान भी नहीं रह जाता। मु० रोशनलाल *'उलटौं महि—'* का भाव यह कहते हैं कि तेरा कुल और नाम नष्टकर राज्य दूसरेको दे दूँगा, यथा—*'भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही।'* (२७२। ७)

---

* जहँ लगे समाजू—पाठान्तर। जहँ लगि—रा० प्र०।

टिप्पणी—२ *'अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं।......'* इति। (क) *'अति डरु'* का भाव कि राज्यभर उलटनेका 'डर' है क्योंकि सब प्रजा मर जायगी, जिससे हमको नरक होगा और श्रीरामजीको बतानेमें *'अति डरु'* है, यह कैसे कहें कि श्रीरामजीने धनुष तोड़ा। पुनः भाव कि परशुरामजी अत्यन्त रिससे बोले हैं, यथा—*'अति रिस बोले बचन कठोरा'*, इसीसे *'अति डरु'* है। (ख) *'उतरु देत नृपु नाहीं'*—उत्तर न देनेका भाव कि राजा सोचते हैं कि हमारा राज्य भले ही उलट जाय, सारी प्रजा भले ही मर जाय, हमको नरक हो (इसमें हर्ज नहीं), पर रामजीको दुःख न हो। [हम श्रीरामजीका नाम कदापि न बतायेंगे। ☞देखिये, श्रीजनकजी श्रीरामजीका परत्व जानते हैं। वे यह भी जानते हैं कि ये ब्रह्म हैं, यथा—*'ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानन्द निरगुन गुन रासी॥......नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल।'* (३४१) यह जनकजीने स्वयं श्रीरामजीसे कहा। तथापि श्रीरामजीका माधुर्य ऐसा ही है कि उसमें सब भूल जाते हैं। इसीसे डर लग रहा है कि इनका नाम बता देंगे तो परशुराम इन्हें मार न डालें।] (ग) *'कुटिल भूप हरषे'* इति। दूसरोंकी विपत्तिमें कुटिल मनुष्योंको प्रसन्नता होती ही है, यथा—*'जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती।'* (७। ४०) अतः *'कुटिल भूप'* हर्षित हुए। पुनः, कुटिल राजा इससे हर्षित हुए कि वे राजा जनक और श्रीरामजी दोनोंसे अपनेको तिरस्कृत माने हुए हैं, वे सोचते हैं कि इन दोनोंने हमको मरण योग्य कर दिया, यथा—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'*, अब अच्छा हुआ कि अब ये भी मरे। (बिना परिश्रम हमारा बदला चुका जाता है।) *'कुटिल भूप हरषे'* कहकर यह भी जनाया कि साधु राजा दुःखी हुए। *'मन माहीं'*—मनमें हर्षित हुए प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि प्रकट हर्षित होनेसे डरते हैं कि परशुरामजी कहीं अनुचित न मानें कि हमारे गुरुदेवका तो धनुष टूटा, हमको तो दुःख है और ये प्रसन्न हो रहे हैं। (डरसे उत्तर न देनेपर कुटिल राजाओंका प्रसन्न होना 'चतुर्थ' उल्लास 'अलंकार' है।)

टिप्पणी—३ *'सुर मुनि नाग नगर नर नारी......'* इति। (क) सुर, मुनि, नाग और नगर, नर, नारी ये ही धनुषके टूटनेपर प्रसन्न हुए थे; यथा—*'सुर किंनर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा।'* (२६५। २) इसीसे वे ही सब परशुरामजीके आगमनसे दुःखी हुए। पुनः, *'सुर'* से स्वर्गवासी, *'नाग'* से पातालवासी और *'नगर नर नारी'* से मृत्युलोकवासी अर्थात् तीनों लोकोंके निवासियोंको भारी त्रास हुआ। कारण कि परशुरामजीका पराक्रम तीनों लोकोंमें सबको विदित है। 'भारी त्रास' यह है कि परशुरामजी श्रीरामजीको मारेंगे। [(ख)*'सोचहिं सकल'*—इन लोगोंने पूर्व श्रीरामजीको आशीर्वाद दिया है, यथा—*'ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा॥'* (२६२। ५) *'सुर किंनर नर नाग देहिं असीसा।'* अतः उनको शोच है कि कहीं हमारा आशीर्वाद व्यर्थ न हो जाय। श्रीरामजी सबको प्रिय हैं, यथा—*'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।'* (२१६। ७) श्रीरामजीके कोमल अङ्ग देखकर सब माधुर्यमें भूल जाते हैं। सुर-नर आदि अनेक उपमेयोंका एक ही धर्म *'त्रास उर भारी'* होना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है।]

मन पछिताति सीय महतारी। बिधि अब* सवरी बात बिगारी॥ ७॥
भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अरध निमेष कलप सम बीता॥ ८॥
दो०—सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी† भीरु।
हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुबीरु॥ २७०॥

अर्थ—श्रीसीताजीकी माता (श्रीसुनयनाजी) मनमें पछता रही हैं कि विधाताने अब सभी बात बिगाड़ दी॥ ७॥ भृगुपति (परशुरामजी) का स्वभाव सुनकर श्रीसीताजीको आधा निमेष कल्पके समान बीतने लगा॥ ८॥

* अब सवँरी—१७०४, १७२१, १७६२। सँवारि सब—छ०। अब सवरी—१६६१, को० रा०।
† सीय अति भीर—१७०४।

(श्रीरामजीने) सब लोगोंको सभीत देखा। श्रीजानकीजीको बहुत डरी हुई जानकर श्रीरघुवीर रामचन्द्रजी बोले। उनके हृदयमें किंचित् भी हर्ष अथवा विषाद नहीं है॥ २७०॥

टिप्पणी—१ *'मन पछिताति'* इति। (क) मनमें पछतानेका भाव कि प्रथम बार जब उनको धनुषके टूटनेके सम्बन्धमें शोच था तब तो उन्होंने सखियोंसे कहा था, यथा—*'रामहिं प्रेम समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ। सीतामातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ॥'* (२५५) सखियोंने समझाकर शोचको दूर कर दिया था और अब यह भारी शोच है जिसे वह किसीसे कहती नहीं, क्योंकि जानती हैं कि यह शोच कोई दूर न कर सकेगा। इसीसे मनमें पछताती हैं। क्या पछताती हैं, यह दूसरे चरणमें कहती हैं। (ख) *'सीय महतारी'*—सीताजीकी माता कहनेका भाव कि इनका सीताजीमें अत्यन्त ममत्व है, उन्हींके लिये पछताती हैं। (ग)—*'बिधि अब सबरी बात बिगारी'* इति। ब्रह्माने सब बनी-बनायी बात बिगाड़ दी, यही पछतावा है। 'सब बात बिगाड़ दी', कहनेका भाव कि जब राजाओंने कोलाहल मचाया तब सन्देह हुआ कि युद्धमें न जाने श्रीरामजी जीतें अथवा राजा लोग जीतें इसीसे वहाँ संदिग्ध वचन *'धौं'* कहा था,—*'रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया॥'* (२६७। ७) और परशुरामजीके आनेसे उनको निश्चय है कि इनसे तो तीनों लोकोंमें कोई नहीं जीत सकता, इसीसे यहाँ निस्सन्देह निश्चय ही बिगड़ना कहती हैं। धनुष तोड़नेमें श्रीरामजीका पराक्रम देख चुकी थीं, इससे पूर्व यह भी आशा थी कि सम्भव है कि राजा लोग उनसे न जीत पावें, इससे उस समय संदिग्ध वचन प्रयुक्त किया गया। पर अब परशुरामजीका सामना है, जो त्रैलोक्यविजयी हैं, परशुरामजीका पराक्रम देखा और सुना है। इससे श्रीरामजीका इनसे जीतना असम्भव मानती हैं। इसीसे कहती हैं कि सब बात निश्चय ही बिगाड़ दी। (प्र० सं०) परशुरामजीके क्रोधित होनेसे ब्रह्माको दोष लगाना 'द्वितीय उल्लास अलंकार' है। (वीर)]

टिप्पणी—२ *'भृगुपति कर सुभाउ सुनि'* इति। (क) *'सुनि'* से पाया जाता है कि किसी सखीने उनसे परशुरामजीके स्वभावका वर्णन किया है। कब कहा ? जब परशुरामजीसे आशीर्वाद मिला और सखियाँ उनको ले चलीं, तब कहनेका अवसर आ पड़ा था। उस समय उन्होंने कहा—'हे सीते ! हमें हर्ष इससे है कि ये शीघ्र किसीको आसिष नहीं देते, तुम्हींको आशीर्वाद दिया; इनका स्वभाव बड़ा कठिन है। यथा—*'बोले चितै परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा॥'* *बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिश्व बिदित क्षत्रियकुल द्रोही।'* (२७२। ४, ६)—यह स्वभाव कहा। (ख) *'भृगुपति'* का भाव कि जिन भृगुजीने भगवान्‌के वक्षःस्थलपर लात मारी थी उन्हींके कुलके तो ये पति हैं (न जाने क्रोधमें क्या कर डालें), इस तरह *'भृगुपति'* कहकर क्रोधी सूचित किया। (ग) *'अरध निमेष कलप सम बीता'* इति। इससे जनाया कि धनुष टूटनेके पूर्व जो व्याकुलता थी उससे अब कहीं अधिक है। पूर्व धनुषकी कठोरता और श्रीरामजीकी सुकुमारताको समझ-समझकर एक निमेष सौ युगोंके समान व्यतीत होता था, यथा—*'अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं॥'* (२५८। ८) फिर जब श्रीरामजी धनुषके समीप आये, तब उससे अधिक व्याकुलता हुई; एक-एक निमेष कल्पके समान बीता, यथा—*'देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥'* (२६१। १) और अब परशुरामजीका स्वभाव सुनने और उनके (राजा जनकसे) प्रश्न करनेपर उस व्याकुलतासे भी अधिक व्याकुलता हुई—अब अर्द्ध निमेष कल्पके समान बीत रहा है। [इस तरह उनकी व्याकुलता उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दिखायी। कुछ लोग *'अरध निमेष'* का यह भाव कहते हैं कि श्रीसीताजी अर्द्ध निमेष ही भर शोचमें निमग्न रहीं, अधिक नहीं (पर वह भी ऐसा जान पड़ता था कि कल्प बीत गया।) इतनी ही देरमें श्रीरामजीने उनकी घबराहट देख तुरत उत्तर दिया। (प्र० सं०) व्याकुलता यह समझकर है कि श्रीरघुनाथजीको न जानें क्या कर बैठें। (रा० प्र०)]

लमगोड़ाजी—कितनी शीघ्रतासे फिर इस परिस्थिति-परिवर्तन-प्रभाव सबोंपर पड़ा। सामाजिक तथा वैज्ञानिक कला विचारणीय है।

टिप्पणी—३ *'सभय बिलोके लोग'* इति। (क) भाव यह कि अभय करना श्रीरामजीका व्रत

हैं, यथा—**'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम'** (वाल्मी० ६। १८। ३३) अपना व्रत स्मरण कर सबको सभीत देखकर निर्भय करना चाहते हैं। (ख)—***'जानि जानकी भीरु'*** इति। औरोंके मुखसे (उनकी चेष्टासे) भय देख पड़ता था। (इसीसे सबके सम्बन्धमें ***'सभय बिलोके'*** कहा), पर श्रीजानकीजीको भयके कारण अर्द्ध निमेष कल्पके समान बीत रहा है, यह कोई नहीं जानता, इसे केवल श्रीरामजीने जाना।

प० प० प्र०—***'भीरु'*** शब्दका अर्थ 'स्वभाव कातर' है, पर इस स्थानमें यह अर्थ लेनेसे असम्बद्धता दोष निर्माण (उत्पन्न) होगा। रावण-जैसे महावीरके मुखपर निर्भयतासे वीर रमणी वीरप्रसूका समुचित रीतिसे भाषण करना और रावणको ***'खद्योत'*** कहना ***'भीरु'*** से कभी न बनेगा। शंका कर सकते हैं कि 'श्रीरघुनन्दनजीके ***'मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ'*** ये श्रीमुखवचन तो स्वभावभीरुता सिद्ध करते हैं ?' तो उसका उत्तर यह है कि यह तो राजनीतिका पालन है, यह वाक्य विदेहकुमारीको वनगवनसे परावृत्त करनेके लिये ही है। माता कौसल्या और राजा दशरथ अवश्य श्रीजानकीजीको स्वभाव-कातर ही समझते थे, पर यह है उनकी 'अधिक प्रीति' का परिणाम ! यथा—***'अधिक प्रीति भा मन संदेहू।'***; वात्सल्यमें सदा ऐसी ही समझ रहती है। ***'भीरु'*** का अर्थ 'भयसे अत्यन्त खिन्न विषण्ण' ऐसा ही लेना पड़ेगा और भगवान्‌को खिन्न ही तो परम प्रिय होते हैं। ऊपरके ***'सोचहिं सकल त्रास उर भारी'*** में ***'त्रास'*** का अर्थ भी 'भयजनित विषाद' ही लेना सयुक्तिक है और आगे ***'बिगत त्रास भइ सीय सुखारी।'*** (२८६। ४) में भी यही अर्थ ठीक होगा।

टिप्पणी—४ (क) ***'हृदय न हरष बिषाद कछु'*** इति। [यह तो श्रीरामजीका स्वभाव ही है, यथा—***'बिषमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ।'*** (२। १२) श्रीरामजी हर्ष-विषादरहित हैं। हर्ष और विषाद जीवके धर्म हैं, यथा—***'हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।'*** (११६। ७) श्रीरामजी ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, इसीसे उनके हर्ष-विषाद कुछ नहीं है। मनुष्यका हृदय जैसा होता है, वैसा ही वचन उसके मुखसे निकलता है। अतः ***'हृदय न हरष बिषाद कछु'*** कहनेका अभिप्राय यह है कि वे हर्ष-विषाद-रहित वचन बोले। हर्ष धनुष तोड़ने वा परशुरामको जीतनेका और विषाद (खेद-चिन्ता) उनके क्रोधभरे वचनोंका, दोनों ही नहीं हैं।] (ख) ***'श्रीरघुबीर'*** के भाव—(१) नम्रतासे बोलना वीरकी शोभा है। विनम्र वचन बोले, अतः 'श्रीरघुवीर' कहा। (२) यहाँ प्रसङ्गके प्रारम्भमें ***'श्रीरघुबीर'*** पद देकर सूचित करते हैं कि रघुवीर (श्रीरामचन्द्रजी) को 'श्री' रहेगी। (३) परशुरामजीको वीररसकी मूर्ति कह आये हैं, यथा—***'धरि मुनि तनु जनु बीररस आयेउ जहँ सब भूप।'*** (२६८) इसीसे श्रीरामजीको ***'श्रीरघुबीर'*** कहा। 'श्री' पद देकर परशुरामजीसे श्रीरामजीकी श्रेष्ठता दिखायी। (४) सब लोगोंको एवं श्रीजानकीजीको दुःखित देखकर पहले धनुष तोड़कर सबको सुखी किया था, यथा—***'राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देखि। चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि॥'*** (२६०) और अब सबको तथा जानकीजीको सभय देखकर सबका दुःख दूर करनेके लिये श्रीरघुवीर बोले। सबका दुःख दूर करे यही वीरकी शोभा है। (५) परशुरामजीकी वीरताकी शोभा न रह जायगी इसीसे परशुरामजीको वीर कहा। श्रीरामजीकी वीरताकी शोभा रहेगी इसीसे इनको ***'श्रीरघुबीर'*** कहा। [(६) रघुवीर पद दिया क्योंकि आप दयावीर हैं। सबका दुःख दूर करेंगे। परशुरामजीका गर्व हरण करेंगे। (७) आप पराक्रम महावीर हैं त्रैलोक्यके राजाओंकी 'श्री' की रक्षा करनेवाले हैं, क्योंकि यदि आप धनुष न तोड़ते तो भूतलपर राजाओंके पराक्रमकी 'श्री' मिट जाती। श्रीजनकजीने कह ही डाला था कि ***'बीर बिहीन मही मैं जानी।'*** परशुरामजी त्रैलोक्यकी 'श्री' के रक्षकसे ही विरोध करेंगे तब उनकी ***'श्री'*** कैसे रह सकती है? 'श्री' सयुक्त नाम देकर प्रथमहीसे उनकी विजय सूचित कर दी है। (८) 'श्री' शब्दसे समस्त ऐश्वर्योंकी पात्रता सूचित की और धैर्य, गाम्भीर्य, वाक्यपटुता आदि गुण 'वीर' पदसे जनाये। (रा० च० मिश्र)

प० प० प्र०—***'श्रीरघुबीर'*** इति। (क) श्रीरामजीके विचार, उच्चार और आचारमें त्याग, दया, धर्म, विद्या और पराक्रम पाँचों प्रकारकी वीरताएँ इस प्रसङ्गमें देख पड़ती हैं। दोहेमें ***'जानि जानकी भीरु'*** से कृपावीरता और ***'हृदय न हरष बिषाद कछु'*** से विद्यावीरता प्रतीत होती है। आगे ***'कृपा कोपु बधु बँधब

गोसाईं। मोपर करिअ दासकी नाईं॥' (२७९। ५) और *'कर कुठारु आगे यह सीसा।'* (२८१। ७) से त्यागवीरता, *'प्रभु सेवकहि समरु कस ।'* (२८१)और *'जल सम बचन बोले ।'* (२७६) इत्यादिसे धर्मवीरता एवं *'जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥'* (२८३) से *'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥'* तक युद्ध (पराक्रम) वीरता स्पष्ट है। यहाँ इस एक ही प्रसङ्गमें पाँचों प्रकारके वीरत्वका निदर्शन किया गया है और यहींसे तो अवतारकार्यका श्रीगणेश है!! (ख) 'श्री' का योग बताता है कि पाँचों प्रकारकी वीरता होनेसे ही श्रीरामजीको 'श्री' की प्राप्ति हुई। (ग) इस 'श्री' शब्दसे ब्रह्मदेवकृत स्तुति *'जय जय सुरनायक '* के *'श्रीकंता'* शब्दसे सम्बन्ध बताकर(*'अब जानी मैं श्री चतुराई। भजी तुम्हहि सब देव बिहाई॥'*) यह समझनेकी कि दैन्यघाटकी कथाका ही यह अंश है, सूचना दी गयी है।

नाथ संभु धनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥ १॥
आयेसु काह कहिअ किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही॥ २॥

अर्थ—हे नाथ ! श्रीशिवजीका धनुष तोड़नेवाला कोई आपका दास (ही) होगा॥ १॥ क्या आज्ञा है? मुझसे क्यों नहीं कहते? (यह) सुनकर क्रोधी मुनि रिसाकर बोले॥ २॥

टिप्पणी—१ *'नाथ संभु धनु '* इति। (क) *'धनुष कै तोरा'* इस प्रश्नका उत्तर श्रीरामजीने दिया कि *'होइहि केउ एक दास तुम्हारा',* अर्थात् उसका तोड़नेवाला तुम्हारा एक दास है।

(ख) प्रश्न—यह सीधे-सीधे क्यों न कह दिया कि हमने तोड़ा है, परोक्ष क्यों कहा?

उत्तर—बात यह है कि परशुरामजी समर करनेपर तुले हुए हैं और हैं ब्राह्मण। सीधे कह देनेसे वे लड़ने लगेंगे। उनसे युद्ध नहीं करना है, वरंच वचनसे ही, बातों-बात ही, उनको परास्त करना है। युद्ध करनेसे ब्रह्महत्या लगती। वचन-चातुरीसे ही उनको जीतना उचित समझा। [कहा भी है—*'जो मधु मरै न मारिऐ, माहुर देइ सो काउ। जग जिति हारे परसुधर, हारि जिते रघुराउ॥'* (दोहावली ४३३)। इसीसे तो परशुरामजीने स्वयं *'जयति बचन रचना अति नागर'* कहकर प्रभुकी स्तुति की है। (प्र० सं०) इसीसे अपनेको प्रकट करके नहीं कहा। दूसरे प्रकट कहनेमें कि हमने तोड़ा है, अभिमान (सूचित) होता है। अपनेको *'धनु भंजनिहारा'* कहकर दास कहा और दास कहकर भी प्रकट न हुए। कहते हैं कि तुम्हारा कोई एक दास होगा—इन वचनोंमें कितनी निरभिमानता भरी हुई है। यह कहनेसे कि हमने तोड़ा है अभिमान पाया जाता। श्रीरामजी अपनी प्रशंसा कभी नहीं करते। देखिये, श्रीसीताजीको पुष्पक विमानसे निशाचरोंका वध बताते हुए उन्होंने लक्ष्मणजी, हनुमान्‌जी आदिके नाम बताये पर अपनेको न बताया। (ग) मानस-प्रकरणमें परशुरामके क्रोधको कीर्ति-सरयूकी घोर धार कहा है और उसके लिये श्रीरामजीके वचनोंको *'घाट सुबद्ध'* कहा है, यथा—*'घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम बर बानी।'* (४१। ४)यही यहाँ चरितार्थ करते हैं। श्रीरामजी वचन-चातुर्यसे ही जीतना चाहते हैं, इसीसे साक्षात् अपनेको नहीं कहा, बचा दिया।

टिप्पणी—२ (क) *'नाथ'* का भाव कि आप जिसके स्वामी हैं और जो आपका दास है, उसने तोड़ा है। अपनेको दास कहते हैं, इसीसे *'नाथ'* सम्बोधन उचित ही है। (ख) *'नाथ संभु'* ऐसा उच्चारण करनेसे मङ्गलाचरण भी हुआ। अपने इष्टको सुमिरकर बोलनेकी भक्तोंकी रीति है। यथा—*'करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीयरघुराजु।'* (२। २९७) *'तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही।'* (५। ९) परशुरामजीसे वार्तालाप करना दूसरेके लिये बहुत कठिन है, पर श्रीरामजीके लिये यह एक साधारण-सी बात है, इसीसे इन्होंने प्रकट मङ्गलाचरण नहीं किया। यहाँ मुद्रालंकार है—

नोट—१ जहाँ कोई वक्ता किसी विषयका प्रतिपादन करते हुए अपने वाक्योंसे दूसरे किसी अभीष्ट विषयको सूचित करता है वहाँ 'मुद्रालंकार' होता है। यथा—'**सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः।**' जैसे कि 'न्यायसे चलनेवालोंको पशु-पक्षी भी सहायक होते हैं। और कुमार्गपर चलनेवालेको उसका सगा भाई भी छोड़ देता है। इस अपने वाक्यसे सूत्रधार सूचित करता है कि (इस नाटकमें) आगे रावणका भाई

उसका त्याग करेगा। यथा—'अनर्घराघवे 'यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्। अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति। इति सूत्रधारवचनेन वक्ष्यमाणरावणवृत्तान्तसूचनमिति बोध्यम्' (कुवलयानन्दग्रन्थ)

पं० रामकुमारजीका आशय यह है कि 'नाथ""दास' से श्रीरामजी यहाँपर वस्तुतः यह कह रहे हैं कि शिवजीका धनुष तोड़नेवाला कोई आपका दास है; पर इस वाक्यसे यह भी सूचित हो जाता है कि *'नाथ संभु'* अर्थात् शिवजी हमारे ही नाथ हैं, अतएव हम आपको डरनेके नहीं। साथ ही आरम्भमें *'नाथ संभु'* कहनेसे निर्विघ्नताके लिये मङ्गलाचरण भी हो गया। *'नाथ संभु'* से यह भी भाव निकलता है कि जिन शम्भुका यह धनुष है उनके हम नाथ हैं, अतः आप व्यर्थ रुष्ट होते हैं।

टिप्पणी—३ *'होइहि केउ एक दास तुम्हारा'* अर्थात् आपके अनेक दास हैं, उनमेंसे कोई एक होगा। ☞ श्रीरामजीके वचनोंसे उनका (श्रीरामजीका) स्वरूप स्पष्ट होता है, इस तरह कि —*'संभु धनु भंजनिहारा'* से उनका पराक्रम स्पष्ट हुआ कि *'तीनि लोक महँ जे भट मानी। सभ कै सकति संभु धनु भानी।'*(२९२। ६) ऐसे धनुषको भी उन्होंने तोड़ डाला। तीनों लोकोंसे अधिक पराक्रम ईश्वरमें है। अतः *'भंजनिहारा'* कहकर ईश्वर होना जनाया। *'होइहि केउ'* से निरभिमानता स्पष्ट हुई। ईश्वर निरभिमान है। अभिमान होना जीवका धर्म है—*'जीव धर्म अहमिति अभिमाना।'* (११६। ७) 'एक' से सूचित किया कि धनुष तोड़नेवाला 'एक' अर्थात् अद्वितीय है, यथा—*'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।'* और *'दास तुम्हारा'* से ब्रह्मण्य स्पष्ट हुआ। ईश्वर ब्रह्मण्यदेव हैं, यथा—**'नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।'*** **'नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति।'**(भा० ५ । १९। ३) *'प्रभु ब्रह्मण्यदेव मैं जाना॥'* (२०९। ४) भगवान् रामजीने इस प्रकार अपने वचनोंसे गुप्त रीतिसे परशुरामजीको अपना स्वरूप जना दिया, परंतु वे क्रोधावेशके कारण समझ न सके।

नोट—२ इस प्रसङ्गके अन्तमें कहा है कि *'सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधरमति के।'* (२८४। ६) वचनोंकी मृदुता और गूढ़ताका उपक्रम *'नाथ संभु धनु भंजनिहारा।""'* इसी चौपाईसे है और उनका उपसंहार *'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई।'* (२८४। ५) पर किया गया है। मृदुता तो *'नाथ' 'एक दास'* इत्यादि वचनोंसे प्रत्यक्ष ही है, रही गूढ़ता सो क्या है? यह प्रश्न उठाकर मुं० रोशनलाल लिखते हैं कि *'केउ एक दास'* में गुप्त भाव यह है कि आपका कोई 'एक' अर्थात् खास, मुख्य, प्रधान वा चुना, छटा हुआ ही दास होगा और *'तुम्हारा'* से भृगुकुल एवं ब्राह्मणमात्रका दास होना जनाया। *'नाथ संभु'* ये वचन अत्यन्त गौरवताके हैं। गौरवता यह है कि तोड़नेवाला *'शंभुका नाथ'* होगा जो कि तुम्हारा (भृगुकुलका) दास है। 'दाससे भृगुलता-चिह्नका बोध करा रहे हैं।'(पाँड़ेजी)

टिप्पणी—४ *'आयेसु काह""'* इति। (क) प्रथम अपनेको दास कहा, अब दासका धर्म कहते हैं। दासका धर्म 'सेवा' है। आज्ञा-पालनके समान दूसरी सेवा नहीं; यथा—*'अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा।'* (२। ३०१) अतः कहा कि *'आयेसु काह'* क्या आज्ञा? (ख) *'कहिअ किन मोही'*—मुझसे क्यों नहीं कहते? तात्पर्य कि तुम्हारा अपराधी तो मैं हूँ। जनकजीने तो आपका कुछ बिगाड़ा नहीं, उनको 'जड़' 'मूढ़' कहना, उनको राज्य उलट देनेकी धमकी देना अनुचित है। यथा—*'तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥'* (२७९। ४) (जैसा लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें कहा है)। इसीसे मैं आपकी आज्ञा पालन करनेको प्रस्तुत हूँ, हाजिर हूँ। यथा—*'कृपा कोपु बध बँधब गोसाईं। मो पर करिय दास की नाईं॥'* (२७९। ५)—इन शब्दोंसे अपनेको *'धनु भंजनिहारा'* जना दिया। (यहाँ वाच्यार्थके बराबर व्यङ्ग्यार्थ है कि मैं ही आपका दास धनुष तोड़नेवाला हूँ। मेरे लिये क्या आज्ञा होती है? यह भी जना दिया कि आप जानते हैं कि हमने धनुष तोड़ा है, आप अनजानकी तरह पूछ रहे हैं। आपको चाहिये था कि सीधे मुझसे कहते जो कुछ कहना होता। यह परशुरामजीके *'कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा'* का उत्तर है।)

---

* पं० रामकुमारजीके टिप्पणमें यह है। परंतु महाभारत अनु० पर्वके 'विष्णुसहस्रनाम' स्तोत्रमें यह नहीं है। भार्गव प्रेस (काशी) के छपे हुए 'विष्णुसहस्रनाम' में यह है। इसमें यह १४८वाँ श्लोक है। श्लोक १४३ से १५८ तक जो इसमें हैं वे मूलग्रन्थमें नहीं हैं।

(ख) *'सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही'* इति। परशुरामजीके क्षण-क्षणमें रिस होती है, यह बात जनानेके लिये कवि बार-बार उनको क्रोध होना लिखते हैं। यथा—*'रिस बस कछुक अरुन होइ आवा' 'ब्यापेउ कोपु सरीर।'* (२६९) *'अति रिस बोले बचन कठोरा।' 'सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही'* (यहाँ), *'सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू ।'* (२७१। ८) *'सुनि सरोष भृगुबंसमनि बोले गिरा गँभीर।'* (२७३) और *'परसुरामु तब राम प्रति बोले उर अति क्रोधु।'* (२८०) इत्यादि। बारम्बार क्रोध करते हैं। [प्रसङ्गके प्रारम्भमें ही कविने उनको *'मुनि कोही'* विशेषण देकर यह बात प्रकट कर दी है कि इस प्रसङ्गभरमें इनका क्रोध भरपूर भरा है। इसीसे मानसमुखबन्दमें *'घोर धार भृगुनाथ रिसानी'* कहा गया है। (प्र० सं०)]

(ग) *'रिसाइ बोले'* अर्थात् कठोर वचन बोले, यथा—*'क्रोध के परुष बचन बल'* रिसाकर बोलनेका भाव कि हमारे गुरुका अपराधी होकर अब सेवक बनकर छलसे बचना चाहता है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—यदि कोई क्रोधसे भरा हुआ पुरुष पूछता हो कि किसने धनुष तोड़ा, उससे कहना कि मैंने धनुष तोड़ा, सीधे-सीधे युद्धका आह्वान करना है। यहाँ परशुरामजी पूछते हैं *'कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा। बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू।'* जनकजी क्रोधकी धार अपने ऊपर लेना चाहते हैं, जानते हैं कि तोड़नेवालेको यह तुरंत वध करेंगे, इस भयसे उत्तर नहीं दे रहे हैं, अपना मारा जाना स्वीकार है, जामाताको कैसे मरने दें। सब लोग सन्त्रस्त हो उठे, स्वयं जानकीजी बड़े संकटमें पड़ गयीं। ऐसी परिस्थिति देखकर उनके क्रोधको शान्त करते हुए, श्रीरघुवीर बोले *'नाथ संभु धनु भंजनिहारा'* इत्यादि।

भाव यह कि शम्भुधनुषको किसी आपके विरोधीने नहीं तोड़ा है, उसे आपके किसी दासने तोड़ा है। दासके पराक्रमसे स्वामीके गौरवकी वृद्धि होती है, ह्रास नहीं होता। वह दास आपके लिये प्रस्तुत है, अब आपको दुरूह कार्यके सम्पादनके लिये युद्धादिका कष्ट न उठाना पड़ेगा, आपकी आज्ञा पाकर दास ही सब कर देगा। मुझे आज्ञा हो, मैं करनेको प्रस्तुत हूँ। इस भाँति सरकारने अपने द्वारा धनुष-भङ्ग होना भी द्योतित कर दिया, परंतु क्रोधी मुनि उत्तरकी बारीकीको नहीं पकड़ सके, इतना ही समझा कि रामजी धनुष तोड़नेवालेको मेरा दास बतला रहे हैं, अतः क्रुद्ध होकर बोले—

सेवक सो जो करै सेवकाई। अरि करनी करि करिअ लराई॥ ३॥
सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥ ४॥
सो बिलगाउ बिहाइ* समाजा। न त मारे जैहहिं सब राजा॥ ५॥

अर्थ—सेवक (तो) वह है जो सेवा करे। शत्रुका काम करके तो लड़ाई ही करनी चाहिये॥ ३॥ हे राम! सुनो! जिसने शिवजीका धनुष तोड़ा है वह सहस्रबाहुके समान ही मेरा शत्रु है॥ ४॥ वह समाजको छोड़कर अलग आ जाय नहीं तो सब राजा मारे जायँगे॥ ५॥

नोट—१ शील और असभ्यताका कितना सुन्दर संघर्ष है। अति क्रोधने परशुरामजीको श्रीरामजीके स्पष्ट वाक्य भी समझने न दिये। उनका क्रोध और बढ़ता ही गया। वे कहते हैं—*'सेवक सो ''' रिपु मोरा।'* हास्यरस कितना सूक्ष्म है कि श्रीरामजीके स्पष्ट वाक्य भी हजरत (श्रीमान्‌जी) की समझमें न आये। नाटकीय विरोधाभासका आनन्द यह है कि वे वाक्य *(सेवक सो ''')* स्वयं उससे कहे जा रहे हैं, जिसने धनुष तोड़ा है। आगे वे यहाँतक कह देते हैं कि *'सो बिलगाउ ''' ।'* (श्रीलमगोड़ाजी)

टिप्पणी—१ *'सेवक सो जो करै '''* इति। (क) जो सेवा करे वह सेवक है। जो शत्रुका काम करे उसे लड़ाई करना चाहिये। लड़ाई करना ही शत्रुका धर्म है।—यह श्रीरामजीके *'होइहि केउ एक दास तुम्हारा'* का उत्तर है। *'आयसु काह कहिअ किन मोही'* इस वाक्यका उत्तर परशुरामजीने नहीं दिया। (ख) यद्यपि श्रीरामजीने अपनेको जनाया तथापि अज्ञानवश एवं इससे कि श्रीरामजीने परोक्ष कहा कि *'होइहि केउ*

* बिहाउ—१७०४।

एक दास तुम्हारा' परशुरामजी न समझ पाये। इसीसे वे दूसरेको धनुष तोड़नेवाला समझ रहे हैं, श्रीरामजीको नहीं। दूसरे श्रीरामजीकी मधुर मूर्ति देखकर यह प्रतीति नहीं होती कि इन्होंने धनुष तोड़ा हो। यथा—***'देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥ कमठ पीठि पबिकूट कठोरा। नृपसमाज महुँ सिवधनु तोरा॥ सकल अमानुष करम तुम्हारे।'*** (३५६। ७; ३५७। ६) ***'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥'*** (२५८। ४) तीसरे, क्रोधमें भरे हुए हैं। इन कारणोंसे उन्होंने श्रीरामजीके वचनोंपर निगाह न डाली (विशेष ध्यान न दिया)। यह समझ रहे हैं कि यह बालक है, धनुष तोड़ नहीं सकता, धनुष तोड़नेवाला कोई और है जो भयके कारण नहीं आता; इसीसे श्रीरामजी उसके लिये सिफारिश करते हैं। [परशुरामजीका आशय यह है कि केवल वचनोंसे सेवक बननेवाला सेवक नहीं है। (वि० टी०)] (ग)—***'करिअ लराई'***—अर्थात् वह सेवक न बने, वह हमसे युद्ध करे, हम उसका बल देखें।

टिप्पणी—२***'सुनहु राम जेहि सिवधनु—'*** इति। (क) वाक्यसे स्पष्ट है कि परशुरामजी समझते हैं कि श्रीरामजी धनुष तोड़नेवालेका अपराध क्षमा करा रहे हैं, इसीसे वे कहते हैं कि जिसने धनुष तोड़ा है वह हमारा सामान्य शत्रु नहीं है कि हम उसे क्षमा कर दें, वह तो सहस्रबाहुके समान हमारा शत्रु है। (ख) ***'सिवधनु'*** कहनेका भाव कि वह हमारे गुरुदेव श्रीशिवजीका धनुष है, इसीसे उसको तोड़नेवाला हमारा शत्रु है। प्रथम जो कहा है कि ***'अरि करनी करि—'*** वह ***'अरि करनी'*** यहाँ स्पष्ट की कि धनुष तोड़ना ***'अरि करना'*** है। (ग) ***'सहसबाहु सम'*** कहनेका भाव कि सहस्रबाहु हमारे पिताका द्रोही था। उसने हमारे पिताको मारा था और धनुष तोड़नेवाला हमारे गुरुका द्रोही है। पितृद्रोही और गुरुद्रोही दोनों तुल्य होनेसे सहस्रबाहुके समान वैरी कहा। आशय यह है कि जैसे हमने उसकी भुजाएँ काटीं (और उसका वध किया) वैसे ही इसकी भुजाएँ काटेंगे जिनसे उसने धनुष तोड़ा है (और फिर उसका वध भी करेंगे)। ***'सहसबाहु'*** की कथा ***पर-अकाज-भट सहसबाहुसे।'*** (१। ४। ३) में कुछ दी गयी है और कुछ आगे दोहा २७२ (८) में लिखी गयी है। [शिवजी परशुरामजीके गुरु हैं। यह परशुरामजीके वचनोंसे स्पष्ट है—***'गुरहि उरिन होतेउँ श्रम थोरे।', 'आगे अपराधी गुरुद्रोही'*** (१। २७५) नाटकमें भी कहा है—**'उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरुर्वीर्यं—'** (हनु० १ । ५३) अर्थात् जो जमदग्निजीसे उत्पन्न हुए हैं, पिनाकी शिवजी जिनके गुरु हैं।]

टिप्पणी—३ ***'सो बिलगाउ बिहाइ समाजा—'*** इति। (क) ***'सो बिलगाउ'*** इति। जनकने जब तोड़नेवालेका नाम न बताया तब परशुरामजीने उनसे पुनः न पूछा और न उनके न बतानेसे रुष्ट ही हुए, क्योंकि जानते हैं कि राजा धर्मात्मा हैं; वे नाम इससे नहीं बताते कि बता देनेसे वह मारा जायगा, हमको पाप लगेगा (और श्रीरामजीने भी नाम नहीं बताया। अतएव उन्होंने सोचा कि अब हम ही उसे अलग करावें। यह विचारकर वे कहते हैं—***'सो बिलगाउ—'*** अर्थात् वह अलग निकलकर आ जाय)। (ख)—***'बिहाइ समाजा'*** कहनेका भाव कि वैरी समाजका अवलम्ब लिये हुए है, यदि वह समाजसे निकलकर बाहर न आ जायेगा तो हम सब समाज अर्थात् सब राजाओंको मारेंगे, उनमें वह भी मर जायगा। (ग) ***'न त मारे जैहहिं सब राजा'***—सब राजाओंको मारनेको कहा जिसमें राजालोग अपने वधके भयसे अपराधीको बता दें। (ग)—***'सब राजा'*** इति। पहले जो कहा कि ***'सहसबाहु सम सो रिपु मोरा',*** अब उसको स्पष्ट करते हैं कि जैसे सहस्रबाहु (एक अपराधी) के कारण समस्त राजा मारे गये वैसे ही एक धनुष तोड़नेवालेके कारण सब मारे जायेंगे। आशय यह है कि उस एकके कारण सबको भले ही मार डालें, किंतु उसको हम न छोड़ेंगे। (अतः यदि वह स्वयं समाजसे निकलकर बाहर न आवे तो तुमलोग अपने प्राणोंको बचानेके लिये उसे बता दो। वह समझदार होगा तो स्वयं अलग हो जायगा कि मेरे कारण समूहका नाश क्यों हो।)

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामी—***'न त मारे जैहहिं सब राजा'*** इस वाक्यसे परशुरामजीमें 'आर्जव' गुणका विनाश सिद्ध होता है। एकके अपराधके लिये सब राजाओंको मारनेकी धमकी देनेमें सरलताका अभाव है। ***'सहसबाहु सम सो रिपु मोरा'*** यह गर्वोक्ति है।

सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने। बोले परसुधरहि अपमाने॥ ६॥
बहु धनुही तोरीं लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं॥ ७॥

शब्दार्थ—**परसुधर**=फरसा धारण करनेवाले=परशुरामजी। **अपमाने**=निरादर करते हुए। **धनुही**=छोटे-छोटे धनुष। **लरिकाईं**=लड़कपनमें।

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर लक्ष्मणजी मुस्कुराये और परशुरामजीका अपमान करते हुए बोले॥ ६॥ हमने लड़कपनमें बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डालीं, (पर) हे गोसाईं! आपने कभी भी ऐसी रिस नहीं की॥ ७॥

नोट—१ *'सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने'* इति। *'मुसुकाने'* के भाव कि—(१) मुनिको ऐसे वचन न बोलने चाहिये, क्रोध न करना चाहिये, उसे तो न तो किसीसे वैर ही करना चाहिये और न किसीको हिंसा ही। पर इनकी सभी बातें मुनिधर्मके विरुद्ध हैं। इनके वचनोंसे ही इनमें ये सब दोष पाये जाते हैं। (२) देखो तो ये मुनि कहलाते हैं और धनुष-बाण तथा कुठार धारण किये हैं। पुनः, मुनिको शान्त रहना चाहिये और ये क्रोध करते हैं। पुनः, मुनिका कोई शत्रु नहीं होता, यथा—*'बिसरे गृह सपनेहु सुध नाहीं। जिमि परद्रोह संत मन माहीं॥'* (७। १६) और ये तोड़नेवालेको सहस्रबाहुके तुल्य शत्रु मानते हैं। (३) देखो तो भगवान् तो इनके सेवक बनते हैं सो तो ये मानते नहीं, उलटे उनको शत्रु बनाते हैं। (पं० रामकुमारजी) (४) यहाँ लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि रामजी तो *'नाथ' 'दास'* आदि वचनोंसे नम्र निवेदन कर रहे हैं, इसपर भी ये दर्पभरी वाणी मुँहसे निकाल रहे हैं, इनका क्रोध बढ़ता ही जाता है। (५) कितने ही शस्त्र धारण करें तो क्या, हैं तो ब्राह्मण ही न! (रा० प्र०) (६) बड़े गर्वके और बेमानके वचन हैं, अतः हँसे। (वै०)

टिप्पणी—१ *'बोले परसुधरहि अपमाने'* इति। *'परसुधर'* कहकर जनाया कि फरसा धारण करनेसे ही लक्ष्मणजीने इनका अपमान किया। यथा—*'कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥ जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर॥'* (२७३) अपमान करनेका दूसरा भाव कि परशुरामजीने धनुष तोड़नेवालेका वध करनेको कहा (यह श्रीरामजीका अपमान है), इसीसे लक्ष्मणजी उनका अपमान करते हैं (भला श्रीरामजीका अपमान ये कब सह सकते हैं?)। ब्राह्मणका अपमान उसके वधके समान है। यथा—**'आज्ञाभंगो नरेन्द्राणां विप्राणां मानखण्डनम्। पृथक् शय्या वरस्त्रीणामसस्त्रवध उच्यते।'** (सु० र० भा० प्रकरण ३ नीति) अर्थात् राजाओंकी आज्ञाका भंग करना, ब्राह्मणोंका मानखण्डन और पतिव्रताको शास्त्रोक्त दशामें पृथक् शय्या देना—इन सबोंका असस्त्रवध कहा गया है। [इस प्रकार इन्होंने श्रीरामजीके अपमानका बदला लिया। उन्होंने मारनेको कहा था—*'सहसबाहु सम सो रिपु मोरा'*, लक्ष्मणजीने विप्र-अपमान-रूपी वध किया। पाँडेजीका मत है कि 'परसुधर' वीरतासम्बन्धी नाम है। परशुधर नाम दिया जिसमें ब्राह्मणका अपमान न हो।

टिप्पणी—२ (क) *'बहु धनुही तोरीं लरिकाईं'* इति। इस चरणके प्रत्येक शब्दसे धनुषकी लघुता कही। *'बहु'* से जनाया कि ऐसी *'धनुही'* बहुत हैं तब इसपर ममत्व क्यों है? *'धनुही'* तो प्रत्यक्ष ही लघुतावाचक शब्द है। *'लरिकाईं'* शब्दसे भी लघुता सूचित होती है, इस प्रकार कि जो धनुहियाँ लड़कपनके बलको भी न सँभाल सकीं, उन्हींके समान यह भी है, जैसे बालपनेमें छोटे-छोटे एवं हलके धनुष तोड़ डाले वैसे ही यह भी धनुष टूटा है। धनुषके अनादरसे परशुरामजीका अपमान है, इसीसे इस धनुषका अनादर करते हैं। गुरुके महान् धनुषको 'धनुही' कहा, यही अपमान है। [कहनेका अभिप्राय यह है कि जैसे लड़कपनमें खेल-ही-खेलमें हमने बहुत-से छोटे-छोटे धनुष तोड़ डाले, वैसे ही यह भी खेलहीमें बिना परिश्रम टूट गया। आगे कहा भी है—*'छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू।'* (२७२। २) श्रीरसिक विहारीजी इस सम्बन्धमें यह कवित्त लिखते हैं—*'छोटे छोटे छोहरा छबीले रघुबंशिनके करत कलोलें यूथ निज निज जोरि जोरि। एहो भृगुनाथ चलो अवध हमारे साथ देखो तहँ कैसे चहूँ खेलत हैं कोरि कोरि॥'* 'रसिक-

बिहारी' *'ऐसी अमित कमानें सदा आन गहि तानें एक एकन ते छोरि छोरि। कोऊ झकझोरैं कोऊ पकरि मरोरैं योंही खोरि खोरि नितहि बहावें बाल तोरि तोरि।'* (प्र० सं०)]। (ख) *'कबहुँ न'* कहकर जनाया कि बहुत धनुहियाँ बहुत दिनोंमें टूटीं, कभी कोई टूटी, कभी कोई। भाव कि जब-जब जो-जो धनुही टूटी तब-तब उस-उसके टूटनेपर आपको रुष्ट होना चाहिये था, पर किसीके भी टूटनेपर (किसी बार भी) आप नहीं रिसाये थे। (ग) *'न असि रिस कीन्हि गोसाईं'* इति। धनुषोंपर न तो ममता की और न उनके टूटनेपर कुपित हुए, इसी सम्बन्धसे *'गोसाईं'* सम्बोधन किया। गोसाईंका यही धर्म है। गो (इन्द्रियों) के स्वामी अर्थात् इन्द्रियजित्। पुनः 'गोसाईं' शब्दमें व्यङ्ग यह कि जब हमने बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डालीं तब तो आपने कभी रिस न किया, गोसाईं अर्थात् इन्द्रियजित् साधु बने रहे और इस धनुहीके तोड़नेपर आप वीर बनकर आये हैं तथा लड़नेपर उतारू हैं, यथा—*'अरि करनी करि करिअ लराई।'* (घ) *'असि रिस'* अर्थात् जैसी इस समय कर रहे हो। यथा—*'कहु जड़ जनक''''' बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि''''' । सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥ सो बिलगाउ'* तक (रा० प्र०)।

नोट—२ परशुरामजीका क्रोध धनुषभंगपर है, इसीसे उसको 'धनुही' और लड़कोंकी तरह खेलमें तोड़ना कहकर उसको परम लघु और तुच्छ जनाया। ये दोनों वचन अपमानके हैं। शिवधनुषको 'धनुही' कहना और 'रिस' को ममताके कारण संकेतरूपमें कहना मजे (विनोद) की बातें हैं और चुटकियाँ हैं। फिर भी सभ्यता और नागरिकता यह है कि परशुरामजीको 'गोसाईं' ही कहा है। मजा यह है कि परशुरामजी अति क्रोधके कारण इसे लक्ष्मणजीकी चुटकी ही समझ रहे हैं। (कविकी सूक्ष्म सूक्तियाँ प्रशंसनीय हैं।) (लमगोड़ाजी)

नोट—३ परशुरामजीके अभिमानयुक्त वचनपर लक्ष्मणजी मुसकुराये और उनके अपमानकी भावनासे, जिस शिव-धनुषपर उनकी इतनी ममता है कि तोड़नेवालेका नाम न बतलानेपर जनकपुरको उलटनेको तैयार हैं, उस धनुषको साधारण धनुहीसे तुलना कर रहे हैं। लड़कपनमें आज भी साधारण गृहस्थके बच्चे खेलमें तोड़ा ही करते हैं, इसपर बड़े लोग नाराज भी नहीं होते। चक्रवर्तीजीके दुलारे लक्ष्मणजीने बचपनमें बहुत धनुही तोड़ी होंगी, इसमें आश्चर्य क्या है? अतः लक्ष्मणजी कहते हैं *'बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं'* पर आप कभी नाराज नहीं हुए। जिस भाँति उन धनुहियोंसे वास्ता नहीं था, उसी भाँति इस धनुषसे भी कोई सम्बन्ध नहीं है, यथा—*'रावरी पिनाक में सरीकता कहाँ रही'* (क०), इसपर ममताका कारण होना चाहिये। जिसका धनुष था उसने आपको सुपुर्द भी नहीं कर रखा था, धनुष भी पुराना बेकार था। सहस्रबाहुने आपके पिताका वध किया था, उससे शत्रुता मानना प्राप्त था। इस धनुषके भंग करनेवालेको वैसा शत्रु समझना तो निष्कारण क्रोध करना है। (पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी)

नोट—४ *'बहु धनुही तोरीं लरिकाईं।'''''* के सम्बन्धमें अनेक कथाएँ टीकाकारोंने लिखी हैं। (क) कोई विजय-दोहावलीका प्रमाण देकर लिखते हैं कि *'दस हजार वे शिशु हते गंधर्वन के पुत्र। तिनकी धनुही छीनकै तोरी हती सुमित्र॥'* अर्थात् गन्धर्वोंने एक बार मृगया खेलमें दस हजार बालकोंके प्राण ले लिये, तब श्रीलक्ष्मणजीने उनको दण्ड दे सबके धनुष छीनकर तोड़ डाले थे—यहाँ *'बहु धनुही तोरीं'''''* से उसकी ओर संकेत है।

(ख)—मयंककार लिखते हैं कि 'इस वचनका तात्पर्य यह है कि शिवजीने जलन्धरके युद्धमें बहुत-से धनुषोंको जीतकर मनोरमा नदीके किनारे रख दिया था, उसके रखनेवाले परशुरामजी थे। यहाँ लक्ष्मणजी प्रायः खेलने जाया करते थे और खेलहीके मिस उन्होंने बहुत-से धनुषोंको तोड़ डाला। वही स्मरण दिलाते हैं।'

(ग)—पण्डित रामचरण मिश्र लिखते हैं कि गूढ़ार्थप्रकाशमें एक कथा यह लिखी है कि 'त्रिपुरासुरके वधके लिये वज्रवत् अस्थियोंके धनुषकी आवश्यकता हुई। ब्रह्माजीके आज्ञानुसार देवताओंने महर्षि दधीचिसे उनके शरीरकी हड्डियोंकी याचना की, जो उन्होंने दे दीं, परंतु उनकी आयु शेष थी, इससे उन्होंने कहा कि अभी मृत्यु तो होगी नहीं, प्राणोंको कहाँ रखें। ब्रह्माने आज्ञा दी कि प्राण 'नाक' के अग्रभाग त्रिकुटीमें रहेंगे और जब त्रेतामें यह धनुष टूटेगा तब तुम्हारी मुक्ति होगी। धनुष बनवानेके लिये शिवजीकी सम्मतिसे

विश्वकर्मा उसे शेषजीके पास ले गये। शेषजीके फण वज्रवत् हैं। उनकी श्वासासे तप्त होकर फणोंकी चोट लगनेसे अस्थियाँ जुड़-जुड़कर धनुषरूप बन जायँ, पर ज्यों ही फन तिरछा हो हिले, जुड़ा हुआ धनुष टूट जाता। यों ही अनेकों बार धनुष बना और टूटा। यह भेद शङ्करजीने जाना तो बड़ी सावधानीसे उन्होंने धनुष जुड़नेपर फिर उसे चोटसे बचा निकाल लिया। धनुष तो बन गया पर चाँप बाकी रही। शङ्करजीने त्रिशूलसे नाकको काट बनी-बनायी चाँप (मूँठ) लगा तपाकर जो फण बाकी था उसकी चोट लगवाकर शीघ्र खींच लिया। इसीसे धनुषका नाम पिनाक पड़ा। इस नाकमें दधीचिके प्राण रहनेके कारण वह सजीव था। जब रामजीने धनुष तोड़ा तब प्राण निकले। अतः लक्ष्मणजी कहते हैं जबतक चाँप नहीं लगी थी तबतक इसकी धनुही संज्ञा रही। क्योंकि बन रहा था उसी अवस्थामें कई बार तोड़ डाला है।'

(घ) बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते है कि—'जब परशुरामजीने पृथ्वी निःक्षत्रिय करके तमाम राजाओंके धनुष अपने स्थानमें ला इकट्ठे किये और बहुत-से देवताओंके धनुष भी वे लाये तो उनके बोझसे पृथ्वी और शेषजी घबराये। तब पृथ्वी माता और शेषजी पुत्र बनकर परशुरामजीके पास इसलिये पहुँचे कि 'कहीं ये ही धनुष राक्षसोंको न मिल जायँ जो प्रलय हो जाय।' वहाँ पृथ्वीने कहा कि हम माता-पुत्र बड़े दुःखी हैं, भोजन भी नहीं मिलता, आज्ञा हो तो यहीं सेवाकर पड़े रहें। अन्यान्य ऋषियोंके पास भी मैं गयी थी, पर इस पुत्रकी चञ्चलताके कारण उन लोगोंने मुझे शरण नहीं दी, आशा है कि आप इस लड़केके अपराध सहते हुए मुझे सेवाकी आज्ञा देंगे। तब परशुरामजीने दया करके कहा कि मैं तेरे पुत्रके अपराध क्षमा करूँगा। बस, दोनों रहने लगे। एक दिन जब परशुराम बाहर गये तो उस बालकने सभी धनुष तोड़ डाले। आवाज सुनकर उन्होंने आकर देखा तो क्रोध न कर आशीर्वाद दे माता-पुत्रको विदा किया। तब शेषजी अपना स्वरूप दिखाकर भविष्यमें शिव-धनुषका टूटना और उस समय फिर सम्भाषण होना कहकर अन्तर्धान हो गये। यहाँ वही लड़कपनमें धनुषोंका तोड़ना सूचित किया है।

☞ वीरकविजी कहते हैं कि लोग तरह-तरहकी कथाएँ ऊपरसे लिखते और कहते हैं पर ये सब असंगत हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी उपर्युक्त कथाओंके सम्बन्धमें लिखते हैं कि 'इस चौपाईके अर्थमें जो लोग इधर-उधरकी कथाओंको जोड़कर अर्थ करते हैं कि शेषजीने बालक बनकर परशुरामजीके संग्रह किये हुए पराजित राजाओंके दिव्यास्त्र नष्ट किये थे, उसको याद दिलाते है; उसमें यह त्रुटि पड़ जाती है कि (यों तो) वह प्रार्थना (स्तुति)-वचन हो जायगा (अपमान नहीं)। (कविके) *'अपमाने'* शब्दका भाव ही नष्ट हो जायगा? दूसरे, जब वे वरदानिक वा दिव्यास्त्र थे तो उनके लिये 'धनुही' का प्रयोग क्यों किया जायगा? विशेष अगली चौपाई *'येहि धनु पर ममता केहि हेतू'* में देखिये।

येहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू॥ ८॥
दो०—रे नृपबालक कालबस बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार॥ २७१॥

शब्दार्थ—'सँभार=रोक; निरोध; वशमें रहने या रखनेका भाव; होस-हवास; विचार।

अर्थ—इस धनुषपर किस कारणसे आपका ममत्व है? (यह) सुनकर भृगुकुलकी ध्वजा (परशुरामजी) रिसाकर बोले॥ ८॥ अरे राजपुत्र! कालके वश तुझे बोलनेमें कुछ भी 'सँभाल' नहीं है। त्रिपुरासुरके शत्रु श्रीशिवजीका सारे जगत्में प्रसिद्ध धनुष 'धनुही' के समान है॥ २७१॥

टिप्पणी—१ *'येहि धनु पर ममता......'* इति (क) *'येहि धनु पर......'* कहनेका भाव कि बहुतेरी धनुहियाँ जो हमने लड़कपनमें तोड़ डालीं उनमेंसे किसीमें ममत्व क्यों न हुआ? पुनः भाव कि (सब धनुष और यह धनुष एक ही आकार-प्रकारके हैं, उनसे) इसमें कोई विशेषता नहीं देख पड़ती, जैसे सब धनुहियाँ टूटीं वैसे ही यह भी टूट गयी। पुनः भाव कि सब धनुष एक-से हैं, यथा—*'सुनहु देव सब धनुष समाना।'* (२७२। १) पर आपका ममत्व एक-सा नहीं है। एक इसीपर है अन्य सबोंपर

नहीं था, इसका क्या कारण है? *'केहि हेतू'* से जनाया कि ममताका कोई हेतु जान नहीं पड़ता। परशुरामजीका ममत्व इस धनुषपर है यह उनके *'सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥'* से स्पष्ट है। (ख) *'ममता केहि हेतू'* का भाव कि आप 'गोसाईं' अर्थात् साधु हैं, साधुको किसी वस्तुमें ममत्व न चाहिये। धनुषपर जो आपकी ममता है, यह आपका अज्ञान है।

नोट—१ *'ममता केहि हेतू'* इति।—संत श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि भाव यह है कि लड़कपनमें खेलमें हमने बहुमूल्य मणि आदि जटित धनुहियाँ तोड़-तोड़ डालीं, तब तो आपने कभी रिस किया नहीं और इस धनुषमें तो कोई लावण्यता ही नहीं, दूसरे यह पुराना भी है, फिर क्या रिस करते हैं ? जैसे उन धनुहियोंके टूटनेपर रोष न किया क्योंकि वे आपकी न थीं, वैसे ही यह भी तो आपका नहीं है, शिवजीका है, अथवा, शिवदत्त जनकके बाप-दादेका है, आपकी ममता इसपर क्यों है? यथा कवितावलीमें—*'रोषे माखे लषनु, अकनि अनखोही बातैं, तुलसी बिनीत बानी बिहँसि ऐसी कही॥ सुजस तिहारे भरे भुवननि भृगुनाथ ! प्रगट प्रताप आपु कहेउ सो सबै सही। टूटेउ सो न जुरैगो, सरासन महेसजूको, रावरी पिनाक मैं सरीकता कहा रही।'* (१। १९) धनुष शंकरजीका है; वे जनकजीके पुरुषाको सौंप गये, यथा—*'नीलकंठ कारुन्यसिंधु हर दीनबंधु दिन दानि हैं॥ १ ॥ जो पहिले ही पिनाक जनक कहँ गए सौंपि जिय जानि हैं।'* (गीतावली १। ८०) फिर शिवजीने इनसे प्रतिज्ञा करवायी; तो जनकजी चाहे उसे तुड़वावें चाहे रखें, तुम्हारा उसमें क्या? जो तुम्हारा रहता तो तुम्हींको न सौंपते? पं० रामकुमारजी भी यही भाव कहते हैं। शिवजीने जनकजीको आज्ञा दी थी कि तुम जानकीजीके विवाहके लिये इस धनुषके तोड़नेकी प्रतिज्ञा करो तब तुम्हारी कन्याके योग्य पति मिलेगा। यह पूर्व लिखा जा चुका है। शिवजीकी आज्ञासे धनुषका तोड़ना ही शुल्क रखा गया और श्रीरामजीने तोड़ा, तब आप कौन हैं?

टिप्पणी—२ (क) *'बहु धनुही तोरीं लरिकाईं'''''* कहकर श्रीलक्ष्मणजीने परशुरामजीका अपमान किया। परशुरामजी धनुषको बहुत भारी समझे हुए हैं, इसीसे लक्ष्मणजी उसे बहुत लघु कहते हैं। वाद-विवादमें ऐसा कहनेकी रीति है। जैसे कि जब रावणने हनुमान्‌जीको बहुत भारी बलवान् कहा तब अंगदने उनको बहुत छोटा धावन कहा। यथा—*'सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला। है कपि एक महा बल सीला॥ आवा प्रथम नगरु जेहि जारा॥ '''''रावन नगर अल्प कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥ जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥'* (६। २३)

(ख) *'सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू'* इति। 'भृगुकुलकेतु' का भाव कि भृगुजी क्रोधी थे [उन्होंने भगवान् विष्णुकी छातीमें लात मारी; परीक्षा ही क्यों न सही पर मारा तो। दूसरे अनजानमें स्त्रीके सिरपर चक्र गिरा तो शाप भी दिया था।—(मा० त० वि०)] और ये तो उस कुलके केतु हैं (उसकी ध्वजा फहरानेवाले हैं,) अर्थात् अत्यन्त क्रोधी हैं, अतः ये क्रोध करके बोला ही चाहें, आश्चर्य क्या? भला इनके कोपका कहना ही क्या? स्मरण रहे कि जब कहा था कि *'कबहुँ न असि रिस कीन्हि'* तब क्रोध न करनेके सम्बन्धसे *'गोसाईं'* कहा था और जब क्रोध किया तब 'भृगुकुलकेतु' विशेषण देते हैं। (क्रोध करके कुलकी मर्यादा रखते हैं। जैसी परम्परा है वैसा करते हैं।)

टिप्पणी—३ *'रे नृपबालक कालबस'''''* इति। [(क) *'नृपबालक'* —भाव कि मैं राजाओंका शत्रु हूँ, यह सोचकर भी तुझे डर नहीं है, सँभालकर नहीं बोलता। क्षणभरमें कालके हवाले कर दूँगा।—*'काल कवल होइहि छन माहीं।'* (२७४। ३) *'कटुबादी बालक बध जोगू।'* (२७५। ३) *'रे कपिपोत बोलु संभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी॥'* (६। २१)] (ख) *'कालबस'* का भाव कि जो कालके वश होता है, उसे कुछ विचार नहीं रह जाता, यथा—*'सन्यपात जल्पसि दुर्बादा। भएसि काल बस खल मनुजादा॥'* (६। ३२। ६) *'सुनि दुर्बचन कालबस जाना।'* (६। ८९) जो कालके वश होता है वह दुर्वचन बोलता है, अट्टहास करता है, अनर्गल बकता है। (ग) *'बोलत तोहि न संभार'*—भाव कि तेरा भाई जैसे सँभालकर बोलता है, वैसा तू नहीं बोलता। श्रीरामजीके वचन सुनकर परशुरामजी प्रसन्न

हुए, क्योंकि उनके वचन बहुत नम्रताके हैं—*'नाथ संभुधनु''''केउ एक दास तुम्हारा'*, इसीसे वे कहते हैं कि तुझे बोलनेका सलीका नहीं है, तेरे भाईको बोलनेका शऊर है। भाई सँभालकर बोलता है, तू सँभालकर नहीं बोलता। (घ) *'धनुही सम तिपुरारि धनु'* इति। [लक्ष्मणजीने दो प्रश्न किये वा दो बातें कहीं—(१) मैंने लड़कपनमें बहुत धनुहियाँ तोड़ीं पर आपने कभी क्रोध न किया। (अर्थात् इस बार क्रोध क्यो करते हैं?) (२) इस धनुषपर ममत्व किस कारणसे है। परशुरामजी इसका उत्तर न दे सके; उत्तर न बन पड़ा, अतः उन्होंने केवल *'धनुही'* शब्दको पकड़कर उसीपर अपना क्रोध दिखाया। (प्र० सं०) *'धनुही सम?'* अर्थात् तूने शिवजीके जगत्-विख्यात धनुषको 'धनुही' क्यों कहा? लक्ष्मणजीने इसका उत्तर तुरंत दिया। यथा—*'लषन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥'*

नोट—२ श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि ''लक्ष्मणजीने वह वचन कहे जिनसे परशुरामजीका अपमान सूचित हो! अतएव वे जानते है कि आप तो इस धनुषके कोई हैं ही नहीं, यह तो शिवजीके द्वारा राजा जनकके अधिकारमें था, आप ऐसी रिस क्यों करते हैं? दूसरी बात अपमानकी यह है कि उनके गुरुके प्रतिष्ठित पिनाकको 'धनुही' की बराबरी कर रहे हैं। उन्हीं दोनों अपमानोंका उत्तर परशुरामजीने दिया भी है।—*'धनुही सम तिपुरारी धनु बिदित सकल संसार।'* *'धनुही सम'* कहकर पिनाककी प्रतिष्ठा की और *'तिपुरारि धनु'* कहकर अपने सम्बन्धका प्रमाण दिया कि यह जिसका धनुष है उसका मैं उपासक शिष्य हूँ।''

टिप्पणी—४ (क) *'तिपुरारि धनु'?*—भाव कि जिससे त्रिपुरासुर मारा गया [जो बड़े परिश्रमसे निर्माण किया गया था, जिसमें सारे देवताओंने अपनी-अपनी शक्ति लगा दी, जिसको शिवजी ही चढ़ा सकते थे दूसरा नहीं, ऐसे कठिन धनुषको 'धनुही' कहता है। (प्र० सं०)] भला वह 'धनुही' के समान है? (ख) *'बिदित सकल संसार'* यथा—*'नृप भुजबलु बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू॥'* (२५०। १)

श्रीलमगोड़ाजी—*'रे'* और *'तोहि'* शब्द बता रहे हैं कि परशुरामजीके क्रोधने उनकी सभ्यतापर विजय पा ली है। उधर लक्ष्मणजीकी सभ्य चुटकियाँ उसे और भी उभार रही हैं। क्रोधने बुद्धिको शिथिल कर दिया है। स्वयं अपने मुखसे कहते जाते हैं कि यह *'तिपुरारि धनु'* है, धनुही नहीं, फिर भी यह नहीं सोचते कि उसका तोड़नेवाला भी साधारण मनुष्य नहीं हो सकता। इसीलिये तो आगे चलकर विश्वामित्रजीने भी कहा है कि *'मुनिहि हरियरे सूझ। अयमय खाँड न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ॥'* (२७५) इनको हरियाली ही सूझ रही है, ठीक परख नहीं कर सकते।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—*'रे नृप बालक'* इति। लखनलालको केवल एक अबोध बालक समझनेपर भी (*'अबुध असंकू'* *'बालक बोलि'*) खीझते हैं और वह भी *'बालक बचन करिअ नहिं काना'* *'बररै बालक एक सुभाऊ। इन्हहिं न संत बिदूषहिं काऊ॥'* ऐसा श्रीरामजी और कौशिक मुनिके समझानेपर। क्या कोई साधारण नृपपुत्र परशुराम-सरीखे क्षत्रिय-कुलकानन-कृशानुके सामने खड़ा भी हो सकता? जहाँ *'अति डर उतरु देत नृप नाहीं'* यह स्थिति श्रीजनक महाराजकी हो गयी थी, वहाँ एक बालक उत्तर-प्रत्युत्तर कर सकता था?—*'चहत उड़ावन फूँकि पहारू'*, *'इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं'* इत्यादि रीतिसे निडर होकर कोई बालक साधारण वीर पुरुषके आगे भी सामना करता तो वह भी जान लेता कि यह कोई साधारण बालक नहीं है। यह तो *'बालक रूप अहइ सुर कोई'* ऐसा जान लेता। पर ये क्रोधावेशमें कुछ समझते नहीं। तस्मात् यहाँ बुद्धिका नाश व ज्ञानहीनता सूचित की।

लषन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥ १॥
का छति लाभु जून धनु तोरे। देखा राम नयन* के भोरे॥ २॥

शब्दार्थ—जाना=जानमें, समझमें। **छति** (क्षति)=हानि, टोटा, नुकसान। जून—यह शब्द जीर्णका अपभ्रंश

* नए कें भोरें—१७२१, १७६२। नयेके—छ०। नयनकें—१६६१, १७०४, को० रा०।

है। दक्षिणी जीर्णको 'जून' कहते हैं। सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'जून' शब्दका अर्थ 'ऐंठी हुई रस्सी' है, जैसा इस लोकक्तिमें स्पष्ट है—'**जून जरे तो जरे पर ऐंठन न जरे।**' 'जून' गुजरातकी बोली है।=जीर्ण, पुराना. **नयन**=नये ही। **भोरे**=धोखेमें।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने हँसकर कहा—हे देव ! सुनिये। हमारी जानमें (तो) सब धनुष एक-से हैं॥ १॥ जीर्ण धनुषके तोड़नेमें हानि या लाभ (ही) क्या? श्रीरामजीने (तो उसे) नयेके धोकेमें देखा था॥ २॥

टिप्पणी—१ *'लखन कहा हँसि ......'* इति। (क) [हँसनेका भाव कि धनुष तो टूटा हुआ पड़ा है, ये उस टूटे हुए धनुषकी प्रशंसा करते हैं। हमसे धनुष टूट गया फिर भी हमसे ही कहते हैं कि ऐसे धनुषको धनुही समझते हो, जब वह सहजहीमें टूट गया तो 'धनुही' नहीं तो और क्या कहा जाय ? व्यर्थ ही धनुही कहनेपर रुष्ट होते हैं। अथवा, हँसे कि हमारी बातका उत्तर तो दे न सके, '**धनुही सम**' कहकर ही अपना रोष जताने लगे, रोषसे उत्तरको पूरा करते हैं। (प्र० सं०) अथवा] लक्ष्मणजी हँसकर बोलते ही हैं, वैसे ही यहाँ भी हँसकर बोले। अथवा, परशुरामजी हँसनेसे चिढ़ते है और चिढ़नेसे कौतुक (खेल) बनता है, इसीसे लक्ष्मणजी बराबर हँसकर बोलते हैं। यथा—*'सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने'* (पूर्व), *'लषन कहा हँसि'* (यहाँ) *'बिहँसि लषन बोले मृदु बानी।'* (२७३। १) इत्यादि। (ख) *'हमरे जाना'* का भाव कि आपके जानमें यह धनुष बड़ा भारी भले ही हो पर हमारे जानमें तो जैसे और सब धनुष थे, वैसा ही यह भी है, क्योंकि जैसे और सब टूटे वैसे ही यह भी टूट गया, (इसके तोड़नेमें किञ्चित् भी परिश्रम न पड़ा। हमसे न टूटता तब भले ही इसे भारी समझते) (ग) *'सुनहु देव'* इति। भाव कि आप दिव्य हैं। (महर्षि जमदग्निजीके पुत्र हैं, महिदेव हैं, मुनि हैं, आवेशावतार हैं, चौबीस अवतारोंमेंसे एक आप भी हैं।) अतः आप यह बात समझ सकते हैं।—लक्ष्मणजीके इन वचनोंसे परशुरामजीको समझ जाना था कि जिस धनुषको देवता, दैत्य, राक्षसराज और मनुष्य कोई भी टसकातक न सके, उसे रामजीने धनुहीके समान तोड़ डाला, यह पराक्रम ईश्वरको छोड़ दूसरेमें नहीं हो सकता, अतः ये अवश्य ही ईश्वर हैं। परन्तु क्रोधावेशमें उनको यह बात न समझ पड़ी। (श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि *'सब धनुष समाना'* का भाव कि 'श्रीरामजीके शार्ङ्गधनुषको छोड़कर जितने भी समस्त देवताओं, दैत्यों और मनुष्य इत्यादिके धनुष हैं वे सब न्यूनाधिक्य प्राकृत गुणोंके संयोगसे सामान्य ही हैं।......')

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'नत मारे जैहैं सब राजा'* इस उक्तिपर ही लक्ष्मणजी मुसकुराये थे, अब *'रे नृप बालक कालबस'* सुनकर तो हँस पड़े कि इन्होंने अपनेको समझ क्या रखा है? अतः उनके परधर्माभिमानके हरणके लिये कहने लगे कि आप ब्राह्मण हैं, धनुष-बाण धारण करना आपका काम नहीं है, इसलिये आपको धनुष-धनुहीमें बड़ा अन्तर बोध होता है, परंतु धनुष हम क्षत्रियोंका स्वधर्म है, हमें इससे दिन-रात काम पड़ता है, इसलिये हमें धनुष-धनुहीमें कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती, समान ही मालूम पड़ते हैं। इसपर भी वह धनुष बहुत पुराना होनेके कारण धनुहीसे भी गया-बीता था, किसी कामका न था, उसके टूटनेसे न किसीका कोई लाभ था, न हानि थी। उसके टूटनेपर क्रोध करना व्यर्थ है और तोड़नेवालेका कोई दोष भी नहीं है। उसने नयेके धोखेसे उसे आजमाना चाहा, सो वह छूते ही टूट गया।

टिप्पणी—२ *'का छति लाभ जून धनु तोरे ......'* इति। (क) यहाँ 'जीर्ण' प्रसिद्ध शब्द न देकर 'जून' शब्दका प्रयोग करनेमें भाव यह है कि जैसे शिवधनुषमें जीर्णता गुप्त है (यद्यपि वह नवीन-सरिस देख पड़ता है) वैसे ही गोस्वामीजीने कवितामें 'जीर्ण' शब्दको गुप्त रखा। (ख) *'का छति लाभ ......'*—का भाव कि जब आपकी उस धनुषपर इतनी ममता है, तब हम उसे क्यों तोड़ते? पुराने धनुषके तोड़नेमें क्या लाभ या हानि है? *'का लाभ'* है, अर्थात् उसके तोड़नेसे कोई यश भी नहीं प्राप्त हो सकता, क्या यश मिला? *'का छति'?* अर्थात् उसके तोड़नेसे क्या हानि हुई? कौन बड़ी वस्तु खराब हो गयी, जो आप बिगड़ रहे हैं। जीर्ण था टूट गया तो टूट गया। (ग) *'देखा राम नयन के भोरे'*—भाव कि वीरताकी वस्तुके देखनेकी इच्छा वीरको होती ही है। [वे तोड़नेके विचारसे भी पास न गये थे। वे तो यह समझे

थे कि राजा जनकने कोई नया कठोर धनुष बनवाकर प्रतिज्ञा की, इसी धोखेमें उन्होंने उसपर दृष्टि डाली। (मा० त० वि०) *'नयन के भोरे'* का यह भी भाव है कि ऊपरसे देखनेमें तो वह हीरे-मणियों आदिसे जटित बड़ा नया और पुष्ट दीखता था, पुष्पमाला आदिसे सुसज्जित था, इत्यादि। यथा—'**घण्टाशतसमायुक्तं मणिवज्रादिभूषितम्॥**'(अ० रा० १। ६। २२) '**ततः स राजा जनकः सचिवान् व्यादिदेश ह। धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यानुलेपितम्॥**' (वाल्मी० १। ६७। २) इसीसे श्रीरामजीने उसे देखा, वे क्या जानते थे कि भीतरसे यह *'जून'* (जीर्ण) है, सड़ा है? *'भोरे'* का भाव कि यदि जानते कि यह जीर्ण-शीर्ण है तो कभी न देखते। 'भोरे' (धोखेसे, भूलसे) कहना माधुर्यके अनुकूल है, ऐश्वर्यमें भूल नहीं है। (घ) ☞परशुरामजीकी दोनों बातोंका उत्तर श्रीलक्ष्मणजीने दिया। *'सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू॥ रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार।'* का उत्तर है—*'का छति लाभ जून धनु तोरें। देखा राम नयन के भोरें॥ छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥'* और *'धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार'* का उत्तर है—*'हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥'*

छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥ ३॥
बोले चितै परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा॥ ४॥

शब्दार्थ—दोसू (दोष) काज=कारण, प्रयोजन, मतलब। रोसू=रोष।

अर्थ—वह (तो) छूते ही टूट गया। (इसमें) श्रीरघुनाथजीका (भी कोई) दोष नहीं। हे मुनि! आप बिना कारण व्यर्थ ही क्यों क्रोध करते हैं?॥ ३॥ (परशुरामजी) फरसेकी ओर देखकर बोले—अरे शठ! (तूने) मेरा स्वभाव नहीं सुना?॥ ४॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—लक्ष्मणजीने जब देख लिया कि परशुरामजीके क्रोधकी धारा जो धनुष भङ्ग करनेवालेकी ओर बह रही थी, उनकी ओर घूम गयी तब *'छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू'* कहकर 'धनुष भङ्ग करनेवाले रामचन्द्र हैं' यह स्पष्ट बतला दिया और फिर वह धारा रामजीकी ओर न घूमे इसलिये कहते हैं *'मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू'*।

टिप्पणी—१ (क) *'छुअत टूट'* छूते ही टूट गया, यथा—*'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें। काहु न लखा देख सब ठाढ़ें॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।'* (२६१। ७-८) श्रीरामजीको किंचित् भी परिश्रम न पड़ा, वह बहुत शीघ्र टूट गया, इसीसे कहते हैं कि छूते ही टूट गया। छूते ही टूट गया, क्योंकि जीर्ण था—यह टूटनेका हेतु पूर्व ही कह चुके हैं। पुनः भाव कि श्रीरामजीने उसे नहीं तोड़ा, वह तो हाथका स्पर्श होते ही आप ही टूट गया, ऐसा पुराना (जीर्ण-शीर्ण, सड़ा हुआ) था। वह अपनेसे ही टूट गया, तब श्रीरघुनाथजीका उसमें क्या दोष? (ख) *'रघुपतिहु न दोसू'*—भाव कि दोष तो तब होता जब वे तोड़नेकी इच्छा करके उसे तोड़ते (उन्होंने तो देखनेकी इच्छासे छुआ भर था)। (ग) ☞यह लक्ष्मणजीकी बुद्धिमानी है कि सबपर दोष बचाकर बात कर रहे हैं। यदि कहते कि श्रीरामजीने राजा जनककी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये धनुष तोड़ा तो जनकजीका दोष ठहरता (और ये उनपर टूट पड़ते), यदि कहते कि विश्वामित्रजीकी आज्ञासे तोड़ा तो उनका दोष ठहरता और यदि कहते कि श्रीरामजीने अपनी वीरतासे तोड़ा तो उनका दोष माना जायगा और ये उनसे भिड़ पड़ते। इसीसे उन्होंने सबको बचाकर सारा दोष परशुरामजीके ही माथे मढ़ दिया। (ऐसा उत्तर दिया कि उन्हींका दोष साबित हो, वे दूसरी ओर झुक ही न पावें। *'रघुपतिहु'* में यह भाव है कि राजा जनक आदि किसीका दोष नहीं, व्यर्थ उन्हें 'जड़' 'मूढ़' कहते हैं और रघुनाथजीका भी दोष नहीं।) सब दोष उन्हींपर धरते हैं कि आप ही व्यर्थ रुष्ट हो रहे हैं। (घ)—*'मुनि'* सम्बोधनका भाव कि आप मननशील हैं, विचार तो कीजिये, भला बिना कारण क्रोध करना उचित है?

नोट—१ श्रीरघुनाथजीने भी ऐसा ही कहा है। यथा—*'राम कहा मुनि कहहु बिचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी॥ छुअतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥'* (२८३। ७-८) *'का छति लाभु जून धनु तोरें'* और *'मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू'* का ही सब भाव इन वचनोंमें है।

नोट—२—प्र० रा० ४ । २१ में भी श्रीरामजीने यही कहा है। यथा—'**रामः। मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः। भगवन्नात्मनैवेदमभज्यत करोमि किम्।**' अर्थात् परशुरामजीके कहनेपर कि 'धनुष तोड़नेपर भी अपनेको निरपराध कहते हो, यह कैसे?' उनके उत्तरमें श्रीरामजी कहते हैं—हे भगवन्! मैंने शिवचापको अच्छी तरह छुआ भी नहीं था कि वह अपनेहीसे टूट गया, मैं क्या करूँ?

नोट—३ '***बिनु काज करिअ कत रोसू***' इति। बिना प्रयोजन रोष करना कहकर जनाया कि आपका कुशल नहीं है, आपकी दशा शोचनीय है। यथा—'***जिमि चह कुसल अकारन कोही।***', '***सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी।***' (२। १७३) (रा० प्र०)

लमगोड़ाजी—लक्ष्मणजीके मजाक (विनोद) का छींटा फिर देखिये।—'***लषन कहा हँसि समाना***'। यह हँसी प्रकट कर रही है कि अब लक्ष्मणजी 'देव' शब्द जान-बूझकर 'रे' आदिके विरोधमें मजाकको उभारनेके लिये प्रयुक्त कर रहे हैं। वे कहते हैं—'***छुअत टूट रोसू***'। '***देव***' तथा '***मुनि***' शब्दोंने गजब कर डाला। परशुरामजी समझ रहे हैं कि यह लड़का हमें कोरा फकीर (मुनि) समझ रहा है। इसीलिये वे फरसेकी ओर देखकर कहते हैं—'***रे सठ***'।

टिप्पणी—२ '***बोले चितै परसु की ओरा***' इति (क) परशुकी ओर देखनेका भाव कि 'देख ! मेरा स्वभाव ऐसा है, मैं इसीसे तुझे काटूँगा, तुझे इसका भय नहीं है? इस फरसे ने सहसबाहु-से महाभटोंके सिर और भुज काटे हैं, तू तो बालक ही है। (रा० प्र०) जब लक्ष्मणजीने धनुषको 'धनुही' कहा, तब परशुरामजी कटु वचन बोले—'***रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार***', और जवाब दिया कि '***धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार॥***' लक्ष्मणजीके इस उत्तरसे कि धनुष जीर्ण था, छूते ही टूट गया, धनुषका और भी अधिक अनादर हुआ। क्योंकि इस उत्तरसे पाया गया कि शिवधनुषमें तो किंचित् भी कठोरता न थी, उससे तो बालपनेकी खेलवाली धनुहियाँ अधिक कठोर थीं, क्योंकि वे तो तोड़नेपर टूटी थीं और यह तो छूते ही स्वयं टूट गया। इसीसे प्रथम 'धनुही' समान कहनेपर उन्होंने कठोर वचन कहे थे और अब धनुहीसे भी लघु कहनेपर '***परसुकी ओर***' देखा। तात्पर्य कि जवाब कुछ न बन पड़ा, उत्तर न दे सके। '***धनुही***' कहनेपर '***रे नृप बालक***' कहा था और '***जून***' कहनेपर '***सठ***' कहते हैं। तात्पर्य कि जैसे-जैसे लक्ष्मणजी धनुषका अनादर करते हैं, वैसे-ही-वैसे परशुरामजी अधिक कठोर वचन बोलते हैं। (ख) '***सठ***'—बड़ेका अपमान करना शठता है, अतः शठ कहा। (ग) '***सुनेहि सुभाउ न मोरा***' भाव कि स्वभाव सुना होता तो ऐसा निडर होकर न बोलता। यथा—'***की धौं श्रवन सुनेहि नहि मोही। देखौं अति असंक सठ तोही॥***' (५। २१। २) जैसे रावणने निःशंक होनेके कारण श्रीहनुमान्‌जीको शठ कहा, वैसे ही यहाँ परशुरामजीने कहा।

बालकु बोलि बधौं नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानहि* मोही॥५॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित क्षत्रिय† कुल द्रोही॥६॥

शब्दार्थ—**बोलि**=जानकर।=कहकर। ठहराकर।

अर्थ—(मैं तो) बालक जानकर वा कहकर तुझे नहीं मारता। अरे मूर्ख! तू मुझे केवल मुनि ही जानता है?॥ ५ ॥ मैं बालब्रह्मचारी और अत्यन्त क्रोधी हूँ तथा क्षत्रियकुलका द्रोही (तो) संसारभरमें प्रसिद्ध हूँ॥ ६॥

टिप्पणी—१ '***बालकु बोलि बधौं नहिं***' इति। (क) श्रीपरशुरामजीने लक्ष्मणजीको बालक कहा है, यथा—'***रे नृप बालक काल बस***'। इसीसे कहते हैं कि बालक कहकर तेरा वध नहीं करते, क्योंकि बालकका वध करना भारी पाप है, यथा—'***जे अघ तिय बालक बध कीन्हें।***' (२। १६७। ६) '**मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्। प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्॥**' (भा० १। ७। ३६) अर्थात् धर्मज्ञ मतवाले,

* जाने—१७०४। † छत्री—छ०

प्रमत्त (जिसने प्रमादसे अपराध किया है), पागल, सोये हुए, बालक, स्त्री, मूर्ख, शरणागत, रथहीन और भयभीत शत्रुको कभी नहीं मारते। (बाबा हरिहरप्रसादजीने 'बालककी बोली जानकर' ऐसा अर्थ किया है। बैजनाथजी और विनायकी टीकाकारने तो पाठ ही बदल दिया है, इन्होंने *'जानि'* पाठ रखा है। 'बोलि' के अर्थ बोली, बुलाकर, बोलकर, कहकर, ठहराकर, जानकर इत्यादि हैं। पं० रामकुमारजी ने 'कहकर' अर्थ लिया है। मेरी समझमें 'जानकर' अर्थ विशेष संगत है। यही अर्थ हमने प्रथम संस्करणमें किया था। यह शब्द इस अर्थमें बँगलामें बोला जाता है।

(ख)—*'केवल मुनि जड़ जानहि मोही'* इति। लक्ष्मणजीने परशुरामजीको *'मुनि'* सम्बोधन करके कहा था कि रोष क्यों करते हो, इसीपर परशुरामजीका यह उत्तर है कि बालक कहकर वा (जानकर) मैं तेरा वध नहीं करता, पर वध न करनेसे तू हमें केवल मुनि समझता है। *'केवल मुनि'* कहनेका भाव कि मुनि किसीको मारते नहीं, क्षमा करते हैं। [अतः तू समझता है कि ये मुनि ही हैं, क्षमाशील हैं, इसलिये कटु वचन कहनेसे मारेंगे नहीं। यह तेरा भ्रम है। इस धोखेमें न रहना। हम केवल अर्थात् कोरे मुनि ही नहीं हैं। और भी कुछ हैं जैसा आगे कहते हैं। अर्थात् मुनि भी हैं और साथ ही महाभट भी हैं, वीर हैं। (प्र० सं०) पुनः भाव कि इस धोखेमें न रह कि हम केवल आशीर्वाद और शाप ही देना जानते हैं। (रा० प्र०)] (ग)—*'जड़'*—भाव कि तेरे बुद्धि नहीं है, इसीसे तू मुझे केवल मुनि जानता है। आशय यह कि न किसीसे हमारा स्वभाव सुना, न तुझे सूझ पड़ा।

२ *'बाल ब्रह्मचारी अति कोही—'* इति। (क) *'बाल ब्रह्मचारी'* इति। परशुरामजी अपनी वीरताका कथन करते है। 'जो कामको जीते वह ब्रह्मचारी है। कामदेव समस्त वीरोंमें श्रेष्ठ है, यथा—*'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥'* (२५७। १) *'मारिकै मार थप्यौ जग में जाकी प्रथम रेख भट माहीं।'* (विनय० ४), सो मैंने उसे भी जीत लिया है।—इस तरह *'बाल ब्रह्मचारी'* कहकर अपनेको वीरशिरोमणि जनाया। ब्रह्मचारीके क्रोध न होना चाहिये, उसे दयावान् होना चाहिये, पर आगे कहना है कि हम क्षत्रियकुल-द्रोही हैं और द्रोह बिना क्रोधके नहीं होता तथा क्रोध बिना शत्रुका संहार नहीं बन पड़ता, अतएव कहते हैं कि मैं *'अति कोही'* हूँ। पुनः भाव कि प्रथम कहा कि मैं केवल मुनि नहीं हूँ, वीर भी हूँ। अब दोनोंका स्वरूप कहते हैं। *'बाल ब्रह्मचारी'* मुनिका स्वरूप है और *'क्षत्रिय कुल द्रोही'* वीरका स्वरूप है। अथवा *'बाल ब्रह्मचारी'* से जितेन्द्रिय होना कहा, *'अति कोही'* से अपना स्वभाव कहा और *'बिश्व बिदित क्षत्रिय कुल द्रोही'* से अपनी वीरता कही। (ख) *'बिश्व बिदित क्षत्रिय कुल द्रोही'* का भाव कि क्षत्रियकुलद्रोही तो और भी हैं पर जैसा मैं हूँ ऐसा कोई और नहीं है। मैं संसारभरके क्षत्रियोंका वैरी हूँ इसीसे संसारभर जानता है। (ग) प्रथम अपनेको *'अति कोही'* कहकर फिर *'क्षत्रिय कुल द्रोही'* कहकर अपने क्रोधकी सफलता कही। तात्पर्य कि हमारा क्रोध क्षत्रियमात्रपर है।

नोट—१ मिलान कीजिये—'**आजन्मब्रह्मचारी पृथुलभुजशिलास्तम्भविभ्राजमानज्याघातश्रेणिसंज्ञान्तरितवसुमतीचक्रजैत्रप्रशस्तिः। वक्षःपीठे घनास्त्रव्रणकिणकठिने संक्ष्णुवानः पृषत्कान् प्राप्तो राजन्यगोष्ठीवनगजमृगयाकौतुकी जामदग्न्यः॥**'(हनु० १। ३१) (अर्थात् लक्ष्मणजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि जन्महीसे ब्रह्मचारी, बड़ी भुजारूप शिलाके स्तम्भसे शोभित प्रत्यञ्चाके चिह्नकी पंक्तियोंकी सूचनासे सम्पूर्ण पृथ्वीको जीतनेकी कीर्तिको धारण करते हुए अस्त्रोंके घावोंकी ठेठोंसे कठिन वक्षःस्थलरूप पीठमें बाणोंको तीक्ष्ण करते हुए और राजाओंके समाजरूपी जंगली हाथियोंकी मृगया करनेके खिलाड़ी वे परशुरामजी आये।) पुनश्च यथा—'**सकलवसुमतीमण्डलाखण्डलकुमुदिनीपक्षलक्ष्मीहरणाकिरणमालिनं न मां वेत्सि—॥**'(हनु० १। ३५)—परशुरामजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि सारे भूमण्डलके राजाओंरूप कुमुदिनियोंके समूहकी लक्ष्मीके हरण करनेको सूर्यके सदृश मुझको नहीं जानता—यह भाव *'बिश्व बिदित क्षत्रिय कुल द्रोही'* का है।

श्रीलमगोड़ाजी—तसवीर बड़ी फुर्तीली पर क्रोधसे भरी है। अहङ्कार देखिये कि *'अति कोही'* *'क्षत्रिय कुल द्रोही'* आदि अवगुणोंको स्वयं विदित कर रहे हैं। क्या यह हँसीकी बात नहीं है कि आज एक

मुनि *'मुनि'* कहनेसे चिढ़े? फिर फरसेका बार-बार दिखलाना भी मुस्कान पैदा किये बिना नहीं रह सका, क्योंकि क्रोध आवश्यकतासे अधिक और अशक्त है। *'बालक बोलि'* वाला बहाना उन्हीं बहानोंमेंसे है जिनकी व्याख्या पहले हो चुकी है।('हास्यरस' से। यह नोट आगेकी चौपाइयों और दोहेपर भी लागू है।)

भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही॥ ७॥
सहसबाहु भुज छेदनिहारा। परसु बिलोकु महीप कुमारा॥ ८॥
दो०—मातुपितहि जनि सोच बस करसि* महीसकिसोर।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर॥ २७२॥

शब्दार्थ—**छेदनिहारा**=अलग करनेवाला; काटनेवाला। दो टुकड़े कर डालनेवाला—'छिदिर्द्वैधीकरणे'। **महीस**=महीप=राजा। **गर्भन्हके**= गर्भोंके, भीतरके। **अर्भक**=छोटा बालक।

अर्थ—अपनी भुजाओंके बलसे मैंने पृथ्वीको बिना राजाओंके कर दी और बहुत बार उसे ब्राह्मणोंको दे-दे दी॥ ७॥ रे राजकुमार ! सहस्रबाहुकी भुजाओंको काटनेवाला (यही मेरा) फरसा देखे ले॥ ८॥ हे राजकुमार! अपने माता-पिताको सोचके वश मत कर। मेरा फरसा अत्यन्त कठिन और भयङ्कर है, (यह) गर्भोंके भी बच्चोंका नाश करनेवाला है॥ २७२॥

टिप्पणी—१ *'भुजबल…'* इति। (क) *'भुजबल'* कहनेका भाव कि मैंने जो कहा कि मैं बालब्रह्मचारी हूँ, इससे यह न समझ लेना कि क्रोधमें आकर शाप देकर क्षत्रियोंका नाश किया होगा। मैंने भुजाओंके बलसे उनका नाश किया है। (ख) *'भूमि भूप बिनु कीन्ही'*—भाव कि सब राजा भूमिपर भारस्वरूप हो रहे थे, अतः सबको मारकर पृथ्वीका भार उतारा। यथा—'**क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु। उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्यस्त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन॥**'(भा० २। ७। २२) अर्थात् वे ही भगवान् परशुराम होकर दैववश नष्ट होनेहीके लिये बढ़े हुए ब्राह्मणद्रोही, कुमार्गगामी और नरकयातनाओंको भोगनेकी इच्छावाले पृथ्वीके संकटरूप क्षत्रियोंका अपने तीक्ष्ण धारवाले फरसेसे इक्कीस बार संहार करनेकी इच्छासे वध करते हैं। (ग) *'बिपुल बार'* कहकर जनाया कि एक बार राजाओंको मारकर ब्राह्मणोंको दे दी। कहीं कोई-कोई छिपकर बच रहे तो जब उनके वंशोंकी वृद्धि हुई और उन्होंने ब्राह्मणोंसे उसे छीन ली तब पुनः उनको मारकर ब्राह्मणोंको दी। इस कारण बहुत बार देना कहा। यदि ब्राह्मणोंके हाथोंमें बराबर बनी रहती, क्षत्रियोंने न छुड़ा ली होती तो *'बिपुल बार'* देना कैसे कहते? (घ) *'महिदेवन्ह'* बहुवचन शब्द देकर जनाया कि किसी एक ब्राह्मणको चक्रवर्ती राजा नहीं बनाया, वरञ्च पृथ्वीभरके विप्रोंको हिस्सा लगाकर बाँट दी। (ङ) *'बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही'* इति। राजाओंके नाशसे पाया जाता है कि पृथ्वीके लोभसे सब राजाओंको मारा होगा, इस शङ्काके निराकरणके लिये कहते हैं कि*'महिदेवन्ह दीन्ही।'* अर्थात् राजाओंका नाश हमने पृथ्वीके लोभसे नहीं किया, पृथ्वीके लोभसे करते तो ब्राह्मणोंको क्यों दे देते?

टिप्पणी—२ *'सहसबाहु भुज छेदनिहारा…'* इति। (क) राजाओंका मारना कहकर सहस्रबाहुको मारना उनसे पृथक् कहनेका तात्पर्य कि वह सब क्षत्रियोंसे विशेष था, अधिक वीर और बलवान् था और मुख्य वैरी भी वही था। यथा—*'सहसबाहु सम सो रिपु मोरा।'* [सम्भव है कि यह समझें कि निर्बल राजाओंको मारा होगा, इसपर कहते हैं कि सहस्रार्जुनकी भुजाओंको इसी फरसेसे काटा कि जिससे भगवान् दत्तात्रेयजीके वरका बल और गर्व था।† उसके तो सहस्रभुजाएँ थीं और तेरे तो दो ही हैं। (पं० रा० प्र०)] (ख)

---

* करसि महीप—१७०४, को० रा०। करहि महीप—छ०। करसि महीस—१६६१, १७२१, १७६२।

† दत्तात्रेयजीसे सहस्रार्जुनको ये वर मिले थे—(१) ऐश्वर्यशक्ति जिससे प्रजाका पालन करे और पापका भागी न हो। (२) दूसरेके मनकी बात जान ले। प्रजाको अधर्मकी बात सोचते हुए भी इससे भय हो और वे अधर्मके मार्गसे हट जायँ। (३) युद्धमें कोई सामना न कर सके (४) युद्धके समय हजार भुजाएँ प्राप्त हो जायँ। (५) पृथ्वी, आकाश, जल, पर्वत और पातालमें

'परसु बिलोकु' —भाव कि जिस फरसेसे सहस्रबाहु मारा गया उससे तुझ राजकुमारको मार डालना क्या बड़ी बात है, कुछ भी तो नहीं। [पुनः भाव कि देख ले, तुझमें इसे सह सकनेका सामर्थ्य है तब ऐसे वचन बोल। अथवा, भाव कि अभी तो तू कुमार है, कुछ दिन तो सुख भोग ले, अभी क्यों प्राण देनेपर उतारू है। (प्र० सं०)] (ग) ☞प्रथम परशुरामजीने स्वयं ही फरसेकी ओर देखा, यथा—*'बोले चितै परसु की ओरा।'* अब लक्ष्मणजीको दिखाते हैं—*'परसु बिलोकु'* इससे ज्ञात होता है कि उनको फरसेका बड़ा अभिमान है, इसीसे वे स्वयं देखते हैं और लक्ष्मणजीको दिखाकर भय उत्पन्न करना चाहते हैं। पुनः *'सहसबाहु भुज छेदनिहारा'* यह फरसेका कर्म सुनाया और *'परसु बिलोकु'* यह परशुका स्वरूप दिखाया। तात्पर्य कि इस फरसेके कर्म और स्वरूप दोनों ही भयदायक हैं। (घ) *'महीप कुमार'* का भाव कि राजकुमार होनेका सुख भोग ले।

नोट—१ *'सहसबाहु'* इति। इनके जन्म, वर और तेज-प्रताप आदिकी कथाएँ दोहा ४ (३) भाग १ में दी जा चुकी हैं। भगवान् दत्तात्रेयसे वर प्राप्तकर वह रथ और वरके प्रभावसे वीर, देवता, यक्ष और ऋषि सभीको कुचले डालता था। उसके द्वारा सभी प्राणी पीड़ित हो रहे थे। आश्वमेधिकपर्वमें लिखा है कि समुद्रसे पूछनेपर उसने सहस्रार्जुनसे बताया कि महर्षि जमदग्निके पुत्र परशुराम युद्धमें तुम्हारा अच्छा सत्कार कर सकते हैं, तुम वहीं जाओ। यह सुनकर राजाने वहाँ जानेका निश्चय किया। अपनी अक्षौहिणी सेनासहित राजा सहस्रार्जुन श्रीजमदग्नि ऋषिके आश्रमपर पहुँचे। ऋषिने इनका आतिथ्य-सत्कार यथोचित किया, जिससे वह चकित हो गया कि वनवासीके पास ऐसा ऐश्वर्य कहाँसे आया? यह मालूम होनेपर कि यह सब कामधेनुकी महिमा है, उसने मुनिसे गौ माँगी। न देनेपर बलात् उसे छीन लिया और मुनिके प्राण भी ले लिये। उस समय परशुरामजी घरमें न थे, घर आनेपर उन्होंने माताको विलाप करते हुए पाया, कारण जाननेपर, उन्होंने पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेका सङ्कल्प किया। कहते हैं कि विलापमें माताने २१ बार छाती पीटी; अतः इन्होंने २१ बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया। परशुरामने माताको ढाढ़स दे तुरंत सहस्रबाहुसे युद्ध किया और भुजाओंको छिन्न-भिन्नकर उसका सिर काट डाला।—विशेष २७६ (१-४) में देखिये।

टिप्पणी—३ *'मातु पितहि……'* इति। (क) पुत्रके मरनेसे माताको अधिक सोच होता है (माताको विशेष स्नेह होता है), इसीसे माताको प्रथम कहा। (ख)—*'मातु पितहि जनि सोच बस करसि'* इति। भाव कि धर्मात्मा लोग बालकोंको नहीं मारते, इसीसे प्रथम कहा कि *'बालक बोलि बधौं नहिं तोही'।* और न वे स्त्रियों और वृद्धोंको दुःख देते हैं, इसीसे कहते हैं कि माता-पिताको सोचवश न कर। [पिताने चौथेपनमें पुत्र पाया है, यथा—*'चौथेपन पायउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥'* (२०८। २) इससे तू उनको बहुत प्रिय है। अपने प्राण गँवाकर तू उनको क्यों दुःख देना चाहता है? ऐसा कहकर परशुरामजी अपनेको बड़ा धर्मात्मा जनाते हैं। (प्र० सं०) इससे यह भी जनाते हैं कि माता-पितापर तरस खाकर हम तुझपर दया करते हैं।] (ग) *'महीसकिसोर'* का भाव कि तू राजपुत्र है, इस बातको समझ। [परशुरामके कहनेका तात्पर्य तो है कि मैं तुझे मार डालूँगा, पर यह सीधे न कहकर इस प्रकार कहना कि तू अपने माता-पिताको सोचके अधीन मत कर—लक्ष्मणजीका मारा जाना कारण है, माता-पिताका सोचवश होना कार्य है, कार्यके बहाने कारणका कथन 'कारज निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार' है। (वीर)]

टिप्पणी—४ *'गर्भन्ह के अर्भक दलन……'* इति। यहाँ दो शंकाएँ उपस्थित होती हैं। एक तो यह कि 'प्रथम कहा था कि हम बालकको नहीं मारते और अब कहते हैं कि हमारा फरसा गर्भके बालकोंको मार डालता है। यह पूर्वापरविरोध कैसा?' दूसरे, 'गर्भके बालकको मारनेमें कुठारकी क्या घोरता है?'—इनका

अव्याहतगति हो। (६) संग्राममें लड़ते-लड़ते अपनी अपेक्षा किसी अधिक जगत्प्रसिद्ध श्रेष्ठ वीरके हाथसे मरे। (७) कुमार्गमें प्रवृत्ति होनेपर सन्मार्गका उपदेश प्राप्त हो। (८) श्रेष्ठ अतिथिकी प्राप्ति। (९) निरन्तर दानसे धन न घटे। (१०) स्मरणमात्रसे राष्ट्रमें धनका अभाव दूर हो जाय। (११) स्वर्णका एक दिव्य विमान जिसकी अव्याहतगति थी।—दोहा ४ (३) भाग १ में देखिये।

समाधान यह है कि परशुरामजी गर्भके बालकोंको मारते नहीं हैं, किंतु उनके फरसेकी घोर गतिको सुनकर स्त्रियोंके गर्भ गिर जाते हैं। यही फरसेकी घोरता है। इसी बातको उन्होंने स्वयं आगे चलकर स्पष्ट कहा है; यथा—*'गर्भ स्रवहिं अवनिप रवनि सुनि कुठारु गति घोर॥'* (२७९) [कुठारकी घोर गति सुनकर गर्भवती क्षत्राणियाँ इतनी भयभीत हो जाती हैं कि उनके गर्भपात हो जाते हैं, इसीसे रनवासमें इनकी कभी चर्चा भी नहीं होती। पंजाबीजी कहते हैं कि 'दशरथका पुत्र जानकर तुझपर दया करता हूँ, तू माता-पिताको शोकवश न कर और जो तू समझे कि बालक जानकर मैं कुछ न कहूँगा, तुझे न मारूँगा; तो इस भ्रममें न रहना, मेरा फरसा तो क्षत्राणियोंके गर्भोंके बालकोंका भी नाश करनेवाला है, गर्भतकके बच्चोंको नहीं छोड़ता और तू तो बड़ा है और फरसाके सामने है, तुझे कब छोड़ेगा?' (पं०, प्र० सं०)] *'अति घोर'* का भाव कि संसारके अन्य वीरोंके फरसे घोर हैं और मेरा फरसा *'अति घोर'* है।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—*'बाल ब्रह्मचारी अति कोही।'''''* (२७२ । ५) *'''''परसु मोर अति घोर॥'* इति। अपने मुखसे अपनी करनीके वर्णनमें लज्जाका अभाव हो जाना स्पष्ट है। यथा—*'लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥'* (६। २९) *'अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥'* (२७४। ६)

नोट—२ मिलान कीजिये—**'उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयितुं यत्र सन्तानरोषादुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान्॥'''''** (हनु० १। ३६) अर्थात् क्षत्रियोंकी सन्तानोंपर क्रोध होनेके कारण गर्भोंको भी उनकी माताओंके पेटसे निकाल-निकालकर टुकड़े-टुकड़े करनेमें निर्दय, सब ओरसे राजवंशोंका इक्कीस बार नाश करनेवाले''''' ।

वीरकवि—यहाँ परशुरामजीका क्रोध स्थायी भाव है। धनुष तोड़नेवाला आलम्बन विभाव है। धनुषको पुराना, सड़ा, सामान्य कथन **'निंदा उद्दीपन विभाव'** है। आँखें लाल होना, क्षत्रियोंकी निर्भर्त्सना, कुठार उठाना आदि अनुभाव हैं। उग्रता, चपलता, गर्व संचारी भावोंसे पुष्ट होकर 'रौद्ररस' संज्ञाको प्राप्त हुआ है।

बिहँसि लखनु बोले मृदु बानी। अहो मुनीसु महा भट मानी॥१॥
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी हँसकर कोमल वचन बोले—अहो (आश्चर्य है)! मुनीश्वर और महा-अभिमानी योद्धा! (अर्थात् मुनीश भी कहीं मानी महाभट होते है?) अथवा, अहा, वाह रे मानी महाभट मुनीश्वर!॥ १॥ मुझे बार-बार कुठार दिखाते हो। पहाड़को फूँककर उड़ाना चाहते हो॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'बिहँसि'* इति। जैसे-जैसे परशुरामजी अज्ञानकी बातें करते हैं तैसे-तैसे लक्ष्मणजी उनपर अधिक हँसते हैं। देखिये, प्रथम उनका मुस्कुराना कहा था, यथा—*'सुनि मुनि बचन लखन मुसकाने'* दूसरी बार हँसना कहा, यथा—*'लखन कहा हँसि हमरे जाना।'* और अब बिहँसना अर्थात् विशेष हँसना कहा। ['मुसुकाना' मंद हास्यका सूचक है। हँसनेमें मुसुकानसे विशेषता है। उससे विहँसनेमें विशेषता है। पुनः, हँसनेका भाव कि अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करते हैं जो वस्तुतः प्रशंसा नहीं है वरञ्च उलटी उनकी निन्दा ही है, जो *'अहो मुनीस'''''* के भावोंसे स्पष्ट हो जायगा।] (ख)—*'बोले मृदु बानी'* से गम्भीरताकी प्रधानता दिखाते हैं कि ऐसे कठोर वचनोंपर भी क्रोधके वचन न बोले, जैसे विशेष हँसे वैसे ही विशेष कोमलवाणीसे बोले। (ग) *'अहो मुनीस महा भट मानी'* इति। परशुरामजीने कहा था कि मैं केवल मुनि नहीं, भट भी हूँ, इसीपर लक्ष्मणजीका यह उत्तर है कि मुनि भट नहीं होते, उनमें कृपा, क्षमा, अहिंसा आदि अनेक दिव्य गुण होते हैं और (भट मुनि नहीं होते, क्योंकि जिस पथपर मुनि चलते हैं उससे भट विमुख होते हैं। शम, शान्ति आदि मुनिकी क्रियाएँ हैं, उनसे भट विमुख होते है।) भटोंमें कृपा, अहिंसा आदि गुण नहीं होते। (वैर, हिंसा, क्रोधादि भटकी क्रियाएँ हैं। मुनि इनसे विमुख रहते हैं।) व्यङ्गसे जनाया कि आप दोनोंमेंसे एक भी नहीं हैं, न मुनि ही हैं न भट। मुनि बनते हो अतः तुममें भटके धर्म नहीं हैं और भट बनते हो इससे तुममें मुनिके धर्म नहीं हैं, ऐसी बात कहकर अपनी

निन्दा ही कर रहे हो—यह समझकर विशेष हँसे। (घ)—अहो, '**इति आश्चर्येण**' अर्थात् यह आश्चर्यकी बात है। मुनीश अभिमानशून्य होते हैं, उनमें भटका अभिमान होना अत्यन्त विरुद्ध है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—परशुरामजीने लक्ष्मणजीके डरानेके लिये अपना पराक्रम वर्णन करते हुए कहा कि *'गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर'* तब तो लक्ष्मणजी खिलखिलाकर हँस पड़े कि गर्भके बच्चेको मारनेवाला अपनेको महाभट मानता है। बोल उठे 'वाह-वाह मुनीश्वरजी! आप तो अपनेको महाभट मानते हैं।' भाव यह कि आपको परधर्म (क्षात्रधर्म) का महाभिमानमात्र है, क्षात्रधर्मसे आप पूरी तरह अनभिज्ञ हैं, गर्भके बालकके वधको कौन क्षत्रिय अपना गौरव मान सकता है? वस्तुतः आप मुनीश्वर हैं, स्वधर्म यजन-याजनादिमें ही कुशल हैं, परधर्म करने चले तो इतना बड़ा अनर्थ (भ्रूण-हत्या) कर डाला। इसीलिये कहा गया है कि '**परधर्मो भयावहः**'। सो आप मुझे बार-बार कुठार दिखाते हैं, मानो मैंने कुठार देखा नहीं। मैं तो कुठार, खड्ग, धनुष-बाणके बीचमें पैदा और पला हुआ हूँ। कुठारादिक व्यवहार मेरा स्वधर्म है, मैं अपने धर्मपर पर्वतकी भाँति अचल हूँ, कुठार दिखलानेसे मैं विचलित कैसे हो सकता हूँ? कुठार दिखलाना मेरे लिये तो फूँककी वायु है, इससे तो वे ही विचलित हो सकते हैं, जो क्षात्रधर्मसे विमुख हैं।

नोट—१ बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'कुछ लोग कहते हैं कि परशुरामजीके वाक्यसे लक्ष्मणजी उन्हें महाभटके स्थानपर व्यङ्ग्यसे महाकादर मानते हैं। इस तरह कि *'बाल ब्रह्मचारी'* से नपुंसक; *'अति कोही'* से मृतकतुल्य, यथा—*'जीवत सव सम चौदह प्रानी ...... सदा रोगबस संतत क्रोधी'*; *'बिश्व बिदित क्षत्रिय कुल द्रोही'* से महापापी, क्योंकि क्षत्रिय जगत्‌का पालन करते हैं, उनका द्रोही क्यों न पापी हो; *'भुजबल भूमि भूप बिनु ......'* से अधर्मी, क्योंकि बिना राजाके धर्म-कर्म कुछ भी नहीं हो सकता, चोर और दुष्टोंकी वृद्धि होती है, पुनः इससे असत्यता भी पायी गयी, क्योंकि अनेक राजा तो यहीं उनके समीप ही बैठे हैं; *'बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही'* से पापी, क्योंकि एक बार जो वस्तु दानमें दे दी उसीको बार-बार कैसे दिया; *'सहसबाहु भुज............'* से कपटी; क्योंकि उसे कपटसे मारा और *'गर्भन्ह के अर्भक दलन'* से वीरताकी पराकाष्ठा हो गयी। अर्थात् बालकोंपर ही इनकी वीरता है। अतएव *'बिहँसे'* और *'महाभटमानी'* कहा। (रा० प्र०)

नोट—२ वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ प्रत्यक्ष तो प्रशंसा की गयी, किंतु मुनिराजका अभिमानी होना निन्दाकी विज्ञप्ति 'व्याज निन्दा अलङ्कार' है।

टिप्पणी—२ (क) *'पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू'* इति। तीन बार अबतक फरसा दिखा चुके, यथा—*'बोले चितै परसु की ओरा'*, *'परसु बिलोकु महीप कुमारा'* और *'गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर'*। इसीसे बार-बार दिखाना कहा। *'मोहि देखाव'* से सूचित होता है कि परशुरामजीने तीनों बार फरसा दिखाया। (ख)—*'चहत उड़ावन फूँकि पहारू,'* इति। परशुरामजीने फरसेकी बहुत भारी प्रशंसा की, यथा—*'सहसबाहु भुज छेदनिहारा'*, *'परसु मोर अति घोर'* इसीसे लक्ष्मणजी उसको अत्यन्त लघु (तुच्छ) कहकर उसका तिरस्कार करते हैं। यहाँ 'फूँक', 'पहाड़', 'उड़ाना' आदि क्या हैं? फरसा 'फूँक' है, लक्ष्मणजी 'पहाड़' हैं, पुनः-पुनः कुठारका दिखाना पुनः-पुनः फूँकना है, दिखाकर डरवाना उड़ाना है। अपनेको पहाड़ कहकर जनाया कि सहसबाहु आदि रज, रूई, मच्छड़ वा तिनकेके समान थे जो उड़ गये, जिनको तुमने मार लिया, हम पहाड़ हैं। भाव यह है कि आप अपनेको महाभट और मुझको रूई, मच्छड़ वा रज आदि हलकी वस्तुओंके समान बालक ही समझते हैं कि मुँहसे फूँक (श्वासा निकाल) कर उड़ा देंगे, अपनी धमकी और चेष्टामात्रसे हमें डरवाना चाहते हैं सो कदापि नहीं हो सकता। हमें सुमेरु-सरीखा पर्वत जान लीजिये। जैसे फूँक पर्वतका कुछ नहीं कर सकती, एक तो वह पर्वततक पहुँचती नहीं, दूसरे कदाचित् वहाँतक पहुँचे भी तो पहाड़को उससे कुछ भी बाधा नहीं हो सकती, वैसे ही एक तो कुठार दिखानेसे वह हमारे समीपतक पहुँच नहीं सकता और यदि हमतक पहुँचे भी तो हमारा कुछ कर नहीं

सकता। फूँककर पर्वत उड़ानेकी इच्छा करना अज्ञान है। पुन: '**फूँकि**' का भाव कि फूँक पुरुषका पुरुषार्थ है। पुरुषार्थकी हीनता कहनेसे पुरुष और पुरुषार्थ दोनोंकी निन्दा सूचित हुई।

नोट—३ वीरकविजी लिखते हैं कि 'लक्ष्मणजीका प्रस्तुत वर्णन तो यह है कि मैं भी शूरवीर हूँ, आपसे बढ़कर पराक्रम करनेवाला हूँ…पर ऐसा न कहकर प्रतिबिम्बमात्र कहना फूँककर पहाड़ उड़ाना चाहते हो, 'ललित अलङ्कार' है।

इहाँ कुम्हड़ बतिआ कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं॥ ३॥
देखि कुठारु * सरासन बाना। मैं कछु कहा† सहित अभिमाना॥ ४॥

शब्दार्थ—**कुम्हड़ बतिआ**=कुम्हड़े (जिसका साग वा तरकारी बनती है। इसे कोहड़ा, काशीफल, सीताफल और रामकरेला आदि भी भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें कहते हैं।) का कच्चा छोटा फल। **तरजनी**=हाथके अँगूठेके पासवाली उँगली (जिससे लोग प्राय: दूसरोंको धमकाते हैं)। **सरासन**=धनुष।

अर्थ—यहाँ कोई कुम्हड़ेकी बतिया नहीं है जो तर्जनी देखते ही मुर्झा जाती है॥ ३॥ कुठार और धनुष-बाण देखकर मैंने कुछ अभिमानसहित कहा॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) '*कुम्हड़ बतिआ……*' इति। लक्ष्मणजीने प्रथम अपनेको पहाड़ कहा, अब उसीकी जोड़में कहते हैं कि यहाँ कोई कुम्हड़ेकी बतिया नहीं है। पहाड़ फूँकसे उड़ नहीं सकता और कुम्हड़ेकी बतिया तर्जनी दिखलानेसे मर जाती है। तात्पर्य कि समस्त राजा जिनको तुमने मार लिया वे कुम्हड़ेकी बतिया थे, इसीसे तुम्हारे फरसारूपी तर्जनीसे मर गये। ☞तर्जनी दिखाना भयकी मुद्रा है, यथा—'***गर्जति कहा तर्जनि न तर्जति बर्जति नयन सयन के कोए।***' इति। (**कृष्णगीतावली**) नोट—कुम्हड़ा तर्जनी देखकर नहीं मुरझाता, उसका छोटा कच्चा फल जो आदिम अवस्थाका होता है मुरझा जाता है, इससे यह भी कहा जाता है कि लक्ष्मणजी अपनेको पूर्णावस्थाका पक्का कुम्हड़ा और अन्य राजाओंको बतियाके समान कहते हैं, क्योंकि राजा उनको देखते ही दबक गये थे—'***बाज झपट जिमि लवा लुकाने***'। ☞यह लोकोक्ति है। विनयमें भी कहा है—'***त्यों-त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर ज्यों-ज्यों सीलबस ढील दई है। सरुष बरजि तरजियै तरजनी कुम्हलैहै कुम्हड़े की जई है।***' (पद १३९)‡ '***कोउ नाहीं***' का इशारा अपनी और श्रीरामजीकी ओर है न कि और राजाओंकी ओर, क्योंकि वे तो इन्हें देखते ही जा दुबक बैठे थे। उनमें फरसा देखनेकी भी ताव कहाँ?]

टिप्पणी—२ '*देखि कुठारु सरासन बाना*……।' इति। (क) '***देखि***' का भाव कि अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए देख वीर विचारकर रिस हुई, यथा—'***देखि कुठारु बान धनुधारी। भै लरिकहिं रिस बीर बिचारी॥***' तात्पर्य कि वीरका प्रचारना, वीरकी ललकार, वीर नहीं सह सकता। यथा—'***जौं रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥***' (ख)—'***सहित अभिमाना***', यथा—'***पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू॥***' अपनेको पहाड़ और फरसेको फूँक कहा, यही अभिमानसहित बोलना है। ☞'***पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू***' के सम्बन्धसे भी '***देखि कुठारू***………' कहा। तात्पर्य कि जब आप कुठारु दिखाते हैं तभी तो हम देखकर कुछ अभिमानसहित कहते हैं, नहीं तो हम अभिमानी नहीं हैं, अभिमानकी बात कभी न कहते। (ग)—'***मैं कछु कहा***' का भाव कि अभिमानकी बात शिष्टजनोंको न कहना चाहिये, इसीसे प्रयोजन आ पड़नेपर कुछ कह दिया, नहीं तो न कहते।

श्रीलमगोड़ाजी—लक्ष्मणजीका जवाब तो मजाकसे कूट-कूटकर भरा है। कहते हैं—'***बिहँसि अहो मुनीस***

---

* कुठारु—१६६१। † कहेउँ—१७०४, को० रा०। कहा—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

‡ पं० रामकुमारजी—'तर्जनीसे ही क्यों मर जाती है और किसी अँगुलीसे नहीं? उत्तर—तर्जनी शब्दका अर्थ है 'डाँटना; इसीसे कुम्हड़ेकी बतिया मुर्झा जाती है। यहाँ कुम्हड़ेको क्यों कहा? इसलिये कि कुम्हड़ा सजीव है, इसे बलि आदिमें देते हैं।' (प्र० सं०)

महाभट मानी'। यह नरमी परशुरामजीके क्रोधका क्रियात्मक मखौल है, अतः उनकी चिड़चिड़ाहटको और भी उभार देता है। *'अहो'* शब्द आश्चर्य एवं हास्यसे भरा हुआ है। महाभट और मानी होनेका एकरार व्यङ्गपूर्ण ही है। लक्ष्मणजी कहते हैं—*'पुनि पुनि''''''पहारू'।* पहले चरणमें *'कुठारू'* शब्दमें फरसेका मखौल विचारणीय है और दूसरा चरण तो हास्यरससे इतना परिपूर्ण है कि उसकी व्याख्या करना कठिन है, परंतु अनुभव होना सहल है। *'इहाँ कुम्हड़ बतिआ कोउ नाहीं'* हास्यरसके साहित्यमें इसके पायेका पद मिलना कठिन है। फरसा दिखानेकी उपमा तर्जनी दिखानेसे देना हास्यरसकी पराकाष्ठा है। और फिर कुम्हड़बतियाकी उपमा तो गजबकी है—कितनी साधारण पर कितनी प्रबल!' ('हास्यरस' से)।

भृगुसुत * समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहौं रिस रोकी॥ ५॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥ ६॥

शब्दार्थ—**भृगुसुत**—'भृगु' शब्दके अनेक अर्थ कोशमें मिलते हैं। मुख्य अर्थ तो 'भृगुजी' ही है, पर अन्य अर्थ परशुरामजी, जमदग्निजी इत्यादि भी हैं। यहाँ जमदग्नि अर्थ है। **भृगुसुत**=जमदग्निजीके पुत्र=परशुरामजी।

अर्थ—आपको जमदग्निजीका पुत्र समझकर और जनेऊ देखकर जो कुछ भी आप कहते हैं उसे मैं क्रोध रोककर सहता हूँ॥ ५॥ हमारे कुलमें देवता, ब्राह्मण, भगवद्भक्त और गऊ—इनपर शूरता (वीरता) नहीं जनायी जाती॥ ६॥

नोट—१ *'भृगुसुत'* समझकर और जनेऊ देखकर कहनेका भाव कि आप ब्राह्मणके पुत्र हैं और ब्राह्मणका चिह्नमात्र जनेऊ आपके शरीरपर है, इन्हींसे आप ब्राह्मण जाने जाते हैं, नहीं तो ब्राह्मणोंके धर्म तो आपमें हैं नहीं, धर्म तो क्षत्रियोंका ही प्रत्यक्ष देख पड़ता है। *'भृगुसुत'* समझनेका भाव अगली अर्धालीमें स्पष्ट करते हैं कि हमारे कुलमें ब्राह्मणोंपर शूरता नहीं दिखायी जाती, हमारा कुल ब्राह्मणोंको मानता है।

नोट—२ *'जनेउ बिलोकी'* इति। अर्थात् जनेऊसे आप ब्राह्मण जान पड़ते हैं। जनेऊसे कैसे जाना? प० रा० च० मिश्रजी कहते हैं 'गृह्यसूत्र लिखता है कि '**कार्पासमुपवीतं स्याद् ब्राह्मणस्य त्रिवृत् त्रिवृत्। शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकलामतः॥**' अर्थात् कपासके तागेकी तीन-तीन आवृत्तिसे ब्राह्मणका जनेऊ होता है''''''''''। अतः कपासके जनेऊसे ब्राह्मण जाना, रहा कुल (वा, जमदग्निके पुत्र होने) का ज्ञान सो उसके लिये '**भृगवश्चक्राकृतिं ग्रन्थिं सर्वेऽन्ये लिङ्गरूपिणीम्।**' अर्थात् भृगुवंशी चक्राकार ग्रन्थि देते हैं, अन्य सब लिङ्गाकृति। अतः चक्राकार ग्रन्थि देख जान गये कि ये भृगुकुलके हैं।' '**कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्। शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥**'(मनु० अ० २ श्लो० ४४) यज्ञोपवीतके सम्बन्धमें ऐसा मनुजीका वाक्य है।† अर्थात् ब्राह्मणको त्रिवृत् तीन सूतवाला ऊर्ध्ववृत् (कटिके ऊपरतक धारण होनेवाला) कपासका, राजाओंको सनका और वैश्योंको ऊनका यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये। हनुमन्नाटकमें भी लक्ष्मणजी श्रीरामजीसे कह रहे हैं कि इनके यज्ञोपवीतका लक्षण तो पिताके अंशको और बड़े बलयुक्त धनुषका धारण करना माताके अंशको सूचित करता है। यथा—**पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्।**'(१। ३०) यही भाव यहाँ *'भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी'* का है। जनेऊसे भृगुसुत तथा ब्राह्मण होना पाया जाता है।

टिप्पणी—१ (क) *'जनेउ बिलोकी'* का भाव कि आप हमसे बार-बार फरसा देखनेको कहते हैं, उसीको देखकर हमने कुछ अनुचित कह डाला, यथा—*'देखि कुठारु सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित*

---

* भृगुकुल—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। भृगुसुत—१६६१।

† मनु० २।४४ में 'कार्पासक्षौमगोवालशणवल्वतृणादिकम्। यथासम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः॥' ऐसा भी उल्लेख मिलता है। अर्थात् कपास, ऊन, गोवाल, शण और वल्व तृणादिका यथासम्भव प्राप्त यज्ञोपवीत द्विजातियोंको धारण करना योग्य है।

अभिमाना॥' 'जो बिलोकि अनुचित कहेउँ.......' और जनेऊ देखकर आपके वचन सहता हूँ। (तात्पर्य कि यदि आपको ब्राह्मण न जानता तो न सहता, पर जनेऊ देख ब्राह्मणपुत्र जानकर सह लेता हूँ। कोई-कोई यह भाव कहते हैं कि परशुरामजी तो कह रहे हैं कि *'परसु बिलोकु',* परंतु लक्ष्मणजी कह रहे हैं कि नहीं हम उसकी ओर नहीं देखते, उसका खयाल करें तब तो तुम्हारा वध ही कर डालें; हम तो *'जनेउ बिलोकी.......'* अर्थात् इसीको देखते हैं। इसीसे सहते जाते हैं।) (ख) ***'जो कछु कहहु'*** इति। 'कछु' कहनेका आशय कि आपने बहुत वचन कहे फिर भी ब्राह्मण जानकर हम उनको 'कुछ' ही मान लेते हैं और ब्राह्मण ही समझकर हमने 'कुछ' ही कहा। (**कछु=कुछ=बड़ी कठोर बात। *'जो कछु'***= सब कठोर वचन। यह मुहावरा है।) (ग)—***'सहौं'*** से जनाया कि वचन अत्यन्त कठोर हैं। दुःसह हैं, सहनेयोग्य नहीं हैं फिर भी सह लेता हूँ। ***'रिस रोकी'*** इति। अर्थात् सहा नहीं जाता, अपने ऊपर बड़ा जब्र करके सहते हैं। आगे कहते भी हैं कि आपके वचन करोड़ों कुलिशोंके समान हैं, वज्रका-सा आघात करनेवाले हैं, बड़े धीरका भी धैर्य छुड़ा देनेवाले हैं। यदि सुनकर क्रोध आ जाता तो सहना न ठहरता, इसीसे ***'रिस रोकी'*** कहा। परशुरामजी कठोर वचन बोलते हैं और लक्ष्मणजी हँसकर बोलते हैं, इससे पाया गया कि रिस रोके हुए हैं; यथा—***'सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने', 'लषन कहा हँसि हमरे जाना', 'बिहँसि लषन बोले मृदु बानी।'*** इत्यादि। भृगुसुत समझकर ***'मुनि'*** और ***'गोसाईं'*** कहा, ***'मुनि'*** कहनेसे आप रिस करते हैं और ***'मुनि'*** जानकर ही हम सहते हैं, इसीसे समझ लीजिये कि मुनिका दर्जा वीरसे भारी है।

नोट—३ कोई महात्मा कहते हैं कि व्यंग्यद्वारा जनाते हैं कि हमने तो जनेऊसे जाना कि तुम ब्राह्मण हो, नहीं तो हम वीर ही जानते थे। जब तुम्हें ब्राह्मण जाना तो अब क्या कहें, क्योंकि ***'सुर महिसुर.......।'*** (रा० प्र०)

टिप्पणी—२ ***'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई.......'*** इति। (क) [प्रथम कहा कि कठोर वचन रिस रोककर सहता हूँ। रिस रोककर न सहते तो क्या करते, यह यहाँ बताते हैं कि हम अपनी सुराई अर्थात् शूरवीरता दिखाते। *'असि रिस होति दसौ मुख तोरौं॥'* (६। ३३। २) यह जो अङ्गदजीने रावणसे कहा है, वही आशय यहाँ भी है। अर्थात् तुम्हारा सिर ही तोड़कर धड़से अलग कर देते पर यह समझकर रिस रोक लेता हूँ कि '***सुर महिसुर***.......।' (ख) पाँड़ेजी कहते हैं कि 'लक्ष्मणजीने सोचा कि सम्भव है कि परशुराम कहें कि हमारा पराक्रम जाकर अपने पितासे पूछ आ, जो एककछ हो गये थे, इसलिये पहलेसे उसकी रोक करनेके लिये कहते हैं कि देवता, ब्राह्मण आदिपर हमारे कुलमें शूरता नहीं होती' (प्र० सं०)] (ग) ***'हमरे कुल इन्ह पर न सुराई'*** इति। भाव कि हमारे कुलमें इनपर वीरता नहीं जनाते, प्रत्युत इनकी सेवा करते हैं। उदाहरण यथा—***'तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥'*** (२९३। ४) आशय यह है कि हम अपने कुलधर्मका पालन करते हैं और आप अपने कुलधर्मके विरुद्ध करते हैं। (घ) ***'इन्ह पर न सुराई'*** का भाव कि इनके विपर्ययपर अपनी शूरता दिखाते हैं। सुरके विपर्ययमें 'असुर' महिसुरके विपर्ययमें 'क्षत्रिय', हरिजनके विपर्ययमें 'खल' और गायके विपर्ययमें 'व्याघ्र' हैं। (ङ) सुर, हरिजन, महिसुर और गऊ ये चार गिनाकर तब ***'हमरे कुल'*** कहनेका भाव कि हमारा कुल इनकी रक्षा करता है। इनकी रक्षाके लिये भगवान् अवतार लेते हैं, यथा—***'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'*** (१९२) ***'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥'*** इनपर शूरता न दिखानेका हेतु आगे कहते हैं***'बधे पाप.......।'***

नोट—४ ***'इन्ह पर न सुराई'*** इति। मिलान कीजिये—(क) '**निहन्तुं हन्त गोविप्रान्न शूरा रघुवंशजाः॥'** (हनु० १। ३९) श्रीरामजी परशुरामजीसे कहते हैं कि गौ और ब्राह्मणोंके मारनेको रघुवंशी शूर नहीं हैं। (ख) '**अस्मिन्वंशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः साहसिक्याद्बिभेमि।**'(हनु० १। ४१) अर्थात् चाहे लोग मुझे दुर्यशवाला कहें चाहे निर्मल यशवाला, पर मैं तो ब्राह्मणोंके ऊपर शस्त्र ग्रहण करनेके बड़े साहससे डरता हूँ। (ग) '**हारः कण्ठे विशतु यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः स्त्रीणां नेत्राण्यधिवसतु**

सुखं कज्जलं वा जलं वा। सम्पश्यामो ध्रुवमपि सुखं प्रेतभर्तुर्मुखं वा यद्वा तद्वा भवतु न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः॥' (हनु० १। ४४, प्र० रा० ४। २३) अर्थात् श्रीरामजी कहते हैं कि हमारे कण्ठमें चाहे हार पड़े वा तीक्ष्ण कुठार पड़े, स्त्रियोंके आँखोंमें सुखपूर्वक काजल रहे चाहे अश्रुजल रहे, हम चाहे सुख देखें अथवा यमराजका मुख देखें, जो भी हो सो हो पर हम ब्राह्मणोंके ऊपर वीर किसी प्रकार नहीं हैं।—ये सब भाव *'इन्ह पर न सुराई'* से जना दिये हैं।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—इन तथा आगेके चरणोंमें बताया है कि ब्राह्मणोंके साथ क्षत्रियोंका बर्ताव कैसा होना चाहिये। *'सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥'* यह श्रीमुखवचन है। फिर भगवान्‌के भाई ही ऐसा न करते तो अन्य लोग मर्यादाका पालन कैसे करते!

बधे पापु अपकीरति हारे। मारतहू पा परिय तुम्हारे॥ ७॥
कोटि कुलिस सम बचनु तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥ ८॥

अर्थ—वध करनेसे पाप और हारनेसे अपयश होता है। (इसलिये) मारनेपर भी (हम आपके) पैरों ही पड़ेंगे॥ ७॥ आपका वचन ही करोड़ों वज्रोंके समान है। आप व्यर्थ ही धनुष-बाण और फरसा धारण करते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'बधे पापु……'* इति। (क) *'बधे पापु'* का भाव कि संग्राममें यदि वीरको वीर मार डाले, तो वीरको पाप नहीं लगता। परंतु (सुर-महिसुर आदि वीर नहीं हैं, इससे) इन्हें संग्राममें मारनेसे भी पाप लगेगा। *'अपकीरति हारे'* का भाव कि संग्राममें वीरसे हारनेसे वीरकी अपकीर्ति नहीं होती; यथा—*'राम काज खगराज आजु लरयो जियत न जानकी त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहग बड़ भागी॥'* (गीतावली ३। ८) परंतु ये वीर नहीं हैं, इससे इनसे लड़नेसे दोनों प्रकार हार ही है, (जीतनेसे भी हार, क्योंकि पाप लगता है।) [इस कथनसे जनाया कि आप शूर तो हैं नहीं, ब्राह्मण हैं, अतएव पाप और अपयश दोनोंसे बचनेके लिये हम वचन सहते हैं।] (ख) *'मारतहू पा परिय तुम्हारे'*— भाव कि हम आपका वचन क्रोध रोककर सहते हैं और यदि आप मारें भी तो हम आपके पैरों ही पड़ेंगे। ☞महात्मा लोग ऐसा ही कहते हैं; यथा—*'सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥'* (३। ३४)

नोट—१ (क) *'बधे पापु अपकीरति हारे'* का अर्थ ऐसा भी लोगोंने किया है कि 'आपके वधमें पाप और आपके हारनेमें अर्थात् आपसे जीतनेमें भी अपकीर्ति ही है।' इस अर्थमें दोहावलीका *'जो परि पाय मनाइये तासों रूठि बिचारि। तुलसी तहाँ न जीतिये जहाँ जीतेहु हारि॥'* (४३०) यह प्रमाण है, पर मेरी समझमें *'जो रिपु सें हारेहुँ हँसी जिते पाप परिताप। तासों रारि निवारिये समय सँभारिय आपु॥'* (४३२) यह दोहा विशेष संगत है। जीतनेमें पाप है, हारनेसे अपयश है, इसीसे इनपर वीरता नहीं जनाते। (ख) *'सागर सोख्यो बलि छल्यो छत्रिन कियो बिनास। हरि उर मारेउ लात जब हारे किमि उपहास॥'* यह शङ्का उठाकर पं० रामचरण मिश्र इसका समाधान इस प्रकार अर्थसे करते हैं कि 'वधसे पाप और अपयश दोनों हैं, अतः हारे, अर्थात् हार गये, पर मारनेपर भी तुम्हारे पाँव पड़ना ही अच्छा है।' (ग)—ब्राह्मण अवध्य है, यथा—**'अवध्या ब्राह्मणा नित्यं स्त्रियो बालाश्च ज्ञातयः। येषां चान्नानि भुञ्जीथ ये चास्य शरणं गताः॥'** (प्र० सं०) मनुजीका वाक्य है कि आचार्य, कथावाचक, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गौ और तपस्वियोंकी हिंसा न करनी चाहिये। यथा—**'आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्। न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥'**(मनु० ४। १६२)

नोट—२ श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि 'पूर्व जो *'जनेउ बिलोकी'* कहा है उसके सम्बन्धसे *'बधे पापु अपकीरति हारे'* कहा। अर्थात् आपका जनेऊ ब्राह्मण बतला रहा है तो हमारे कुलमें ब्राह्मणोंसे वीरता नहीं की जाती, क्योंकि वध करें तो पाप लगे और हारें तो अपकीर्ति हो'। और *'भृगुकुल समुझि'* के सम्बन्धसे *'मारतहू पा परिय'* कहा। अर्थात् 'आप ब्राह्मणोंमें भृगुकुलके हैं कि जिस भृगुलताको विष्णुभगवान्

धारण किये हुए हैं, अर्थात् भृगुजीने श्रीविष्णुभगवान्‌को लात मारी पर भगवान्‌ने सहन कर लिया, यही समझकर आप जो कुछ कहिये मैं सहन करूँगा; श्रीलक्ष्मणजीने '*भृगुकुल समुझि*' का भाव भृगुलता कहा।'

टिप्पणी—२ '*कोटि कुलिस सम बचनु तुम्हारा*......' इति। (क) यहाँ '*बचनु*' एक कहा, क्योंकि यदि बहुत वचन कहते तो '*बचन तुम्हारे*' कहना चाहिये था। यद्यपि परशुरामजीने बहुत वचन कहे हैं तो भी '*बचन तुम्हारे*' न कहकर '*बचनु तुम्हारा*' कहनेमें भाव यह है कि आपका एक-एक वचन करोड़ों वज्रके समान है। (ख) '*ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा*' इति। भाव यह कि जिसे आप कोप करके शाप दे दें वह भस्म हो जाय, यथा—'*इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्रद्रोह पावक सो जरई॥*' (७। १०९) (श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि '*कोटि कुलिस सम*' का भाव यह है कि ब्राह्मणका एक शाप उससे भी अधिक कठिन काम करता है, जितना इन्द्रके करोड़ों वज्राघातसे भी नहीं हो सकता, यदि उसमें शुद्ध ब्राह्मणके गुण हों। अत: कहा कि आपका वचन ही फरसा आदिसे कठिन है, इनकी आवश्यकता ही क्या कि जो आप वीरवेष बनाये हैं)। (ग)—परशुरामजीको धनुष, बाण और कुठारका बड़ा अभिमान है, इसीसे लक्ष्मणजीने ब्राह्मणका सामर्थ्य कहकर धनुषादिका धारण करना ही व्यर्थ किया, अर्थात् उनकी वीरताकी जड़ ही उखाड़ डाली—इस चतुराईसे बात की। जब परशुरामजीने धनुषकी बड़ाई की, तब लक्ष्मणजीने उसे '*धनुही*' कहा और छूते ही टूट जाना कहकर उसे जीर्ण सूचित किया, इसपर परशुरामजी निरुत्तर हो गये। जवाब न बन पड़ा तब उन्होंने अपने कुठारकी बड़ाई की—'*सहसबाहु भुज छेदनिहारा*'।........,' जिसके उत्तरमें इन्होंने अपनेको पहाड़ और उनके परशुको फूँक कहा। पुन:, 'ब्राह्मणके वचनके आगे धनुषादिका धारण करना व्यर्थ है' इस कथनका आशय यह है कि इनका किया कुछ नहीं होता, जैसे फूँकसे पहाड़ नहीं उड़ता। [(प्र० सं०)—पूर्व परशुरामजीने धनुषकी बड़ाई की, उसका निरादर लक्ष्मणजीने '*सुनहु देव सब धनुष समाना*' कहकर किया। फिर उन्होंने अपनी वीरताकी प्रशंसा की, उसका निरादर इन्होंने दोहा २७३ में किया और विशेषरूपसे इस अर्धालीमें, जिसका भाव यह है कि ये सब वीरका बाना छोड़ दो, हथियार अलग कर दो, ये हमारे क्षत्रियोंके अस्त्र-शस्त्र हैं सो छोड़कर हमें दे दो। ब्राह्मणोंके लिये तो शाप ही पर्याप्त हथियार है।]

नोट—३ वचनको वज्रकी समता देकर धनुषादिको व्यर्थ ठहराना अर्थात् उपमानमें उपमेयसे अधिक गुण वर्णन करना 'व्यतिरेक अलङ्कार' है। (वीर)

नोट—४ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं—'*क्षत्रियकुलद्रोही*' के श्रेणीके युद्धवाले शब्दोंका कितनी खिल्ली उड़ानेवाला उत्तर है, परंतु कितना सच्चा! द्रोहका उत्तर द्रोह नहीं अपितु शील ही है। अन्तिम पद '*सुर महिसुर*......*सुराई*' की व्याख्या स्वयं लक्ष्मणजीने यों की है और बताया है कि वे ब्राह्मण आदिसे क्यों नहीं लड़ते—'*बधे पापु*....*तुम्हारे।*' प्रथम चरणका व्यंग्य कितना सुन्दर है और दूसरे चरणकी नम्रता उसे और उभार देती है। '*कोटि कुलिस*.....*कुठारा*' माधुर्यका यह व्यंग्यपूर्ण वार गजबका है। लक्ष्मणजी कहते हैं कि आपके शब्दरूपी बाण ही क्या कम हैं जो इतने हथियार लेकर चलते हैं।

दोहा—जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर।
सुनि सरोष भृगुबंश मनि बोले गिरा गँभीर॥ २७३॥

अर्थ—जिन्हें (जिन धनुष-बाण-कुठारको) देखकर मैंने यदि (कुछ) अनुचित कहा (हो) तो उसे हे महामुनि! हे धीर! आप क्षमा करें। यह सुनकर भृगुकुलशिरोमणि परशुरामजी क्रोधसहित गम्भीर वाणी बोले॥ २७३॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'*कोटि कुलिस*.....*मुनि धीर।*' इति। '*तप बल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा॥ बिप्र श्राप बिनु सुनु महिपाला। तोर नास नहि कवनेउ काला॥*' स्वयं शिवजी कहते हैं—'*इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। काल दंड हरि चक्र कराला॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई।*

बिप्र रोष पावक सो जरई॥' इस बातको लक्ष्मणजी कह रहे हैं कि आपके वचनमें कोटि वज्रकी शक्ति निहित है, उससे हम निःसंदेह डरते हैं, उसपर गौरवकी दृष्टि न होकर आपकी गौरवकी दृष्टि इस धनु, बाण और कुठारमें है। आप व्यर्थ ही लोहा लादे फिरते हैं। इससे डर होना तो दूर गया, हमलोगोंको प्रतिस्पर्धी वीर समझकर क्रोध होता है, हम क्षात्रतेजसे नहीं डरते, ब्राह्मतेजसे डरते हैं। *'चारु जनेउ माल मृगछाला'* से हमें भयका सञ्चार होता है, तूण, शर, कुठार और धनुष देखकर तो युद्धोत्साह होता है। उन्हें देखकर ही मैंने आपसे ऐसी बातें कीं, जो उचित नहीं थीं। आप महामुनि हैं, धीर हैं, अपने स्वरूपपर आइये, स्वधर्म सँभालिये, परधर्मका अभिमान त्याग करिये। मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। सारांश यह कि आपके शाप-प्रदानपर उद्यत होनेको मैं डरता हूँ, युद्धके लिये उद्यत होनेको नहीं। क्योंकि मैं स्वधर्ममें स्थित हूँ।

टिप्पणी—१ (क) *'जो बिलोकि'* इति। भाव कि यदि हम इन्हें न देखते तो अनुचित न कहते, यथा—*'जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं॥'* (२८२। ३) तात्पर्य कि हथियार धारण करनेसे ब्राह्मणका स्वरूप छिप जाता है और उसका अपमान होता है, इससे आप इन्हें व्यर्थ धारण किये हुए हैं। (जो शब्द देहलीदीपक है—*'धनु बान कुठारा जो।'* और *'जो अनुचित कहेउँ'*)। (ख) *'महामुनि धीर'*— अर्थात् आप मननशीलोंमें शिरोमणि हैं, धीर हैं अर्थात् विकारोंसे क्षोभको प्राप्त होनेवाले नहीं हैं; अतएव क्षमा कीजिये। [ये व्याजव्यंग्योक्तिसे अपमानित सम्बोधन है इसीसे परशुरामजी *'सुनि सरोष बोले'*] (ग) *'सरोष'* इति। धनुषादिका धारण करना व्यर्थ कहनेपर रुष्ट हुए कि जिन अस्त्र-शस्त्रोंसे हमने सहस्रबाहु आदि ऐसे भारी वीरोंका नाश किया उन्हींको व्यर्थ कहता है। (घ) *'भृगुबंश मनि'* इति। प्रथम परशुरामजीको सूर्य कहा था, यथा—*'तेहि अवसर सुनि सिवधनुभंगा। आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा॥'* (२६८। २) यहाँ 'मणि' कहकर सूचित करते हैं कि पहले सूर्यके समान थे, परंतु श्रीराम-लक्ष्मणजीको कटु वचन बोले, इसीसे क्रमशः तेज घट गया। [अथवा, उस प्रतापरविको लक्ष्मणजीने अस्त कर दिया। अब पतंगसे मणि रह गये और आगे यह भी न रह जायँगे। पुनः, इस विशेषणसे जनाया कि इनके वंशका स्वभाव सदासे ऐसा ही चला आता है, अतः सरोष बोला ही चाहें। (प्र० सं०, रा० च० मि०)] (ङ) *'गिरा गँभीर'* अर्थात् गरजकर बोले। गम्भीर वाणीको उपमा मेघकी है, यथा—*'बोले घन इव गिरा सुहाई।'* (६। ७४) *'गर्जा अति अंतर बल थाका।'*

लमगोड़ाजी—उन्हीं हथियारोंकी ओर संकेतकर लक्ष्मणजी फिर कहते हैं—*'जो बिलोकि·······'*। यह क्षमा माँगना भी गजबका है, क्योंकि साथ ही *'महामुनि धीर'* वाली चुटकी लगी हुई है। व्यंगोंका आखिर कुछ प्रभाव हुआ। कवि लिखता है—*'सुनि सरोष·······गँभीर';* शब्दोंमें गम्भीरता आ गयी।

कौशिक सुनहु मंद येहु बालकु। कुटिल कालबस निजकुल घालकु॥१॥
भानुबंस राकेस कलंकू। निपट निरंकुसु अबुध* असंकू॥२॥

शब्दार्थ—'**घालकु**'=नाश करनेवाला। '**कलंकू**'=धब्बा, दाग, अपकीर्ति देनेवाला, बदनाम करनेवाला। '**निपट**'=बिलकुल, बहुत ही, पूरा। नितान्त। '**निरंकुसु**'=बिना अंकुशका, स्वतन्त्र, किसीका दबाव न माननेवाला, उच्छृङ्खल, उद्दण्ड। '**अबुध**'=बुद्धिहीन, मूर्ख, नासमझ। '**असंकू**'=शंका (डर) रहित, निडर।

अर्थ—हे कौशिक! सुनो। यह बालक मंद (नीच, दुर्बुद्धि), कुटिल (टेढ़ा), कालके वश, अपने कुलका नाशक॥ १॥ सूर्यवंशरूपी पूर्ण चन्द्रमाका कलंक (अर्थात् उसको कलंकित करनेवाला), नितान्त उद्दण्ड (बिना दबावका) बुद्धिहीन और निडर है॥ २॥

टिप्पणी—१ *'कौशिक सुनहु'* इति। विश्वामित्रजीसे क्यों कहा? कारण कि—(१) श्रीजनकजीपर क्रोध है, इससे उनसे नहीं कहते, यथा—*'अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कैं तोरा॥'* (२७०। ३) और श्रीरामजीसे यह समझकर न कहा कि वे भी तो लड़के ही हैं, उनके डाँटने एवं मना करनेसे यह

* निठुर निसंकु—१७०४। अबुध असंकू—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

न मानेगा। दूसरे, परशुरामजीने अभी श्रीरामजीकी वाणी अच्छी तरह नहीं सुनी है, इससे इनका स्वभाव भी अभी नहीं जानते, बिना सुने-जाने कैसे कहते? [(२) रह गये विश्वामित्रजी, सो ये दोनों लड़कोंको लेकर स्वयं आकर इनसे मिले थे और इन्हींने दोनों लड़कोंसे इनके चरणोंमें प्रणाम कराया था, अतएव निश्चय है कि इनका कहना लक्ष्मणजी अवश्य मानेंगे, यह समझकर उनसे कहा। पुनः, (३) 'कौशिक' सम्बोधनका भाव कि 'जब हम कुशवंशियोंको मारने लगे थे तब तुमने कितनोंहीको अपने कुलके सम्बन्धसे बचाया था, इससे इस बालकके लिये भी जो तुम्हें पुनः प्रार्थना करनी हो तो इसे निवारण (मना) करो, नहीं तो फिर हम इसे क्रोधमें न छोड़ेंगे।' (पं०) बात तो यह है कि लक्ष्मणजीसे बातोंमें न जीत सके, कुछ उत्तर न बन पड़ा तब उधर झुके, उनसे पुकार की।—यही *'घोर धार भृगुनाथ रिसानी'* जो मानसमुखबंदमें कहा गया उस 'धारा' का फिरना है। (४) कौशिकजीसे कहनेका और भी कारण यह है कि ये दोनों कुमारोंको दशरथजीसे माँग लाये थे। यदि राजकुमार मार डाला गया तो इनको कलंक लगेगा, इनकी प्रतिष्ठामें धब्बा लग जायगा। अतः ये उसे अवश्य चुप करेंगे।]

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी—इस प्रसंगमें कविकुलकिरीट सम्राट् मानसशास्त्रके कितने सुन्दर नमूने उपस्थित करते हैं, यह देखनेयोग्य है। परशुरामजीका मन लखनलालसे (न तो वाग्युद्धमें और न शस्त्रास्त्रायुधयुद्धमें विजय पानेकी निराशा होनेपर), अपनी हार स्वीकृत करनेको तैयार नहीं है। वे इधरसे उधर, उधरसे इधर फिर-फिरके कुछ-न-कुछ आधार पकड़कर अपनी जीत सिद्ध करनेका विफल प्रयत्न कर रहे हैं। जैसे-जैसे विफलता बढ़ती है, वैसे-वैसे कोप-कृशानु भी अधिक धधकता जाता है। एकपर कोपका कार्य न होता देख दूसरेपर! कैसा मानवी प्रकृतिका विचित्र, यथार्थ चित्रण है!

टिप्पणी—२ *'मंद येहु बालकु। कुटिल……'* इति। (क) बड़ेका अपमान करता है, अतः मंद है। *'कुटिल'* का भाव कि इसके सब वचन प्रलापके हैं। अतः बहुत अभिमान है। अतः मंद है और स्वयं वीर बनता है और जो हमने सहस्रबाहु आदि कितने ही क्षत्रियोंको मारा उनको फूँक बताता है, हमको वीर नहीं मानता, कोरा ब्राह्मण कहता है और कहता है कि धनुष-बाण-कुठार न बाँधो, पुनः, स्वयं तो धर्मात्मा बनता है, कहता है कि मेरा कुल ब्रह्मण्य है और साथ ही हमारा सिर काट डालनेको तैयार है, आप वीर बनकर हमसे बड़ा बनना चाहता है, इत्यादि सब कुटिलता है। (ख) *'कालबस'* है, क्योंकि सँभालकर नहीं बोलता, जिह्वापर लगाम नहीं है। यथा—*'रे नृप बालक कालबस बोलत तोहि न सँभार'* पुनः हम जो क्षत्रियोंके लिये काल हैं, उन्हींसे वाद-विवाद करता है, अतः जाना गया कि कालवश है। (ग) *'निजकुल घालकु'*—भाव कि कटुवादी होनेसे इसका तो वध होगा ही, यथा—*'कटुबादी बालक बध जोगू।'* (२७५। ३) पर इसके कटु वचनोंके कारण इसके कुलका नाश होगा। तात्पर्य कि हम इसको मारकर फिर इसके वैरसे इसके सारे कुलका नाश करेंगे, जैसे सहस्रबाहुके वैरसे क्षत्रियमात्रका नाश किया। [(घ) जैसे लक्ष्मणजीने *'भृगुसुत समुझि……'* कहा, वैसे ही उसकी जोड़में परशुरामजीने *'निज कुल घालक'* कहा। लक्ष्मणजी भृगुवंशी समझकर नहीं मारते और इन्हें 'सूर्यवंश' का खयाल है]।

टिप्पणी—३ *'भानुबंस राकेस कलंकू……।'* इति। (क) *'निजकुल घालकु'* कहकर अब उसका हेतु कहते हैं कि भानुवंश राकेश है, निर्मल है; उसमें यह दोषरूप है। इसीके दोषसे भानुवंशका नाश होगा। यह ब्राह्मणका अपमान करता है। ब्राह्मणापमानसे कुलका नाश होता है, यथा—*'कुल कि रहहि द्विज अनहित कीन्हे', 'जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा'।* ब्राह्मणका अपमान करनेसे भानुवंशके कीर्तिचन्द्रको मलिन कर रहा है। (ख) पुनः, *'भानुबंस राकेस'* का भाव कि सूर्य कलंकरहित है, कलंक चन्द्रमामें है। (ग)—प्रथम लक्ष्मणजीने आशयसे जनाया कि धनुषादि धारण करनेसे ब्राह्मणकुल छिप जाता है। अर्थात् शस्त्रास्त्रका धारण करना ब्राह्मणकुलको दूषित करता है; इसीपर परशुरामजी कहते हैं कि यह बालक कुलका नाशक और कुलका कलंक है। (घ)—निपट अर्थात् भरपूर, बिलकुल, हद दर्जेका। बालपनेसे इसे किसीने शिक्षा नहीं दी, अतः *'अबुध'* है। इसीसे हम अपना बल प्रताप रोष कहते हैं तो इसे ज्ञान नहीं होता।

अबुध है इसीसे अशंक है। भाव कि बुद्धि हो तब तो हमारे स्वरूपका ज्ञान इसे हो, हमारा स्वरूप जानता तो शंका होती। (ङ) ☞ पुरुषकी परीक्षा चार प्रकारसे की जाती है—स्वरूपसे, कुलसे, संगसे और कर्मसे। परशुरामजी मंदादि विशेषण देकर लक्ष्मणजीको चारों प्रकारसे दूषित दिखाते हैं। 'मंद, कुटिल; कालवश अर्थात् मृतकसमान' कहकर अपने स्वरूपसे दूषित कहा। *'भानुबंस राकेस कलंकू'* और *'निजकुल घालकु'* कहकर जनाया कि इसने कुलको दूषित कर दिया। *'अबुध'* से संगदूषित कहा अर्थात् इसने कभी बुद्धिमानोंका संग नहीं किया और, *'निपट निरंकुसु'* और *'असंकू'* से कर्म दूषित दिखाये, तात्पर्य कि स्वतन्त्र है, अपने मनका काम करता है, यथा—*'परम सुतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई॥'* अथवा 'कुलघालक' कर्म है।

श्रीलमगोड़ाजी—परशुरामजीके वाक्यमें शाब्दिक गम्भीरता केवल बाह्य है। इन वाक्योंमें अपशब्दोंकी कमी नहीं *'काल कवलु'*······' वाली डींग भी विचारणीय है, पर साथ-ही-साथ क्रोधकी विवशता भी प्रकट है, और अब विश्वामित्रजीका निहोरा ढूँढ़ा जाता है। आगे *'कहि प्रताप बल रोष हमारा'* वाला अहंकार भला लक्ष्मणजी कब सह सकते थे? वे बोल ही उठे—*'लखन कहेउ मुनि'*······'।

काल कवलु होइहि छन माहीं। कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं॥ ३॥

तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा। कहि प्रतापु बलु रोषु हमारा॥ ४॥

अर्थ—क्षणभरमें यह कालका ग्रास हो जायगा। मैं पुकारकर कहे देता हूँ, (फिर) मेरा दोष नहीं॥ ३॥ जो तुम उसे बचाना चाहते हो तो हमारा प्रताप, बल और क्रोध कह (समझा) कर उसे मना करो॥ ४॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'कौशिक सुनहु······खोरि मोहि नाहीं।'* इति। लक्ष्मणजीने परशुरामजीको उत्तर-प्रत्युत्तरमें ऐसा फँसाया कि रामजीको धनुष-भंग-कर्ता जाननेपर भी वे रामजीकी ओर नहीं घूम सके, लक्ष्मणसे ही जी छुड़ाना कठिन हो गया। तब उनके अभिभावक विश्वामित्रजीसे कहने लगे कि यह बालक मन्द है, वह मन्द नहीं है जिसने धनुष तोड़ा है। लक्ष्मणजीने आठ अर्धालियोंमें आठ बातें कहीं—*'अहो मुनीस महा भटमानी'* से लेकर *'ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा'* तक। उन्हीं आठ बातोंको दृष्टिमें रखकर परशुरामजी उन्हें आठ विशेषणोंसे क्रमशः विशेषित करते हैं। यथा—(१) **मंद,** (२) ***कुटिल,*** (३) ***कालबस,*** (४) ***निजकुल घालकु*** (५) ***भानुबंस राकेस कलंकू*** (६) ***निपट निरंकुसु*** (७) ***अबुध*** (८) ***असंकू।*** मन्द ऐसा है कि मुझे महाभट नहीं मानता, भटमानी कहता है। कुटिल ऐसा कि मैंने *'गर्भन के अर्भक दलन परसु मोर'* अपने स्वभावकी घोरतापर कहा, इसने उसे वीरतामें लगा दिया। कालवश है, इसलिये मेरे कुठारको तर्जनी समझ रहा है। कुलघालक है, क्योंकि मेरे शस्त्रोंके सामने अभिमान करनेवालेके कुलको मैं निःशेष कर देता हूँ। कुलकलङ्क है। अपयश-भाजन, प्रियजन-द्रोही है। इसकी कटुवाणीसे इसके प्रियजनका नाश होगा। निकट निरंकुश है। सुर, महिसुर, हरिजन और गाय प्रातःस्मरणीय हैं, उन्हें दीन मानता है। अबुध है। अपनेमें मेरे वध करनेकी योग्यता मानता है और मुझसे पराजित होना भी अपने लिये लज्जाजनक समझता है। अशङ्क है। मेरे धनु-बाण-कुठार-धारणको व्यर्थ बतलाता है। इस भाँति यह बढ़-बढ़कर बोलता है। अपनेको इतना बड़ा वीर मानता है कि मेरे शस्त्र बाँधनेपर क्रोध दिखलाता है, कहता है—*'जो बिलोकि अनुचित कहेउँ।'* यह इसकी सब करनी देख लो, मेरा एक आघात सहनेमें भी समर्थ न होगा। इसलिये पुकारकर कहे देता हूँ जिसे रोकना हो इसे रोको, नहीं तो मेरे हाथसे इसका वध हुआ ही चाहता है। पीछे मुझे कोई दोष न दे।

टिप्पणी—१ (क) *'काल कवलु'*······' इति। भाव कि समस्त संसार कालका कलेवा है, यथा—*'अग जग जीव नाग मुनि देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥'* तब यह तो उस कालके कौरभरको भी नहीं है; हाँ, छोटे कालका कौरभर है। वह छोटा काल कौन है, यह आगे कहते हैं—*'छन माहीं'*। क्षण जो छोटा काल है, उसका कौर हो जायगा। अर्थात् यह क्षणभरमें ही मर जायगा, इसके मरनेमें

बहुत काल न लगेगा। (ख)—*'कहौं पुकारि……'* इति। पुकारकर कहनेका भाव कि जिसमें सब लोग सुन लें, फिर मुझे दोष न दें। यथा—*'अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू। कटुबादी बालकु बध जोगू॥'* (२७५। ३) [पुनः भाव कि इसे क्षणभरमें मार डालूँगा, सबके सामने मारूँगा कुछ चुपचाप नहीं। जो आप कहें कि यह बच्चा है गम खाइये, सो नहीं होनेका] (ग) ☞परशुरामजीने पहले लक्ष्मणजीको कालवश कहा—*'रे नृपबालक कालबस,'* फिर दूसरी बार कहा कि बालकको मारनेमें दोष है, इससे इसको नहीं मारते—*'बालक बोलि बधउँ नहिं तोही'* और अब तीसरी बार कहते हैं कि अब हमें बालकका वध करनेमें दोष नहीं लग सकता, सबसे पुकारकर इस बातको कहे देता हूँ।

टिप्पणी—२ (क) *'तुम्ह हटकहु……'* इति। भाव कि इसके बचानेके लिये हमने अपना प्रताप, बल, रोष सब कहकर मना किया, फिर भी यह नहीं मानता। यथा—*'गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर'।* फरसेकी घोरता सुनकर रानियोंके गर्भ गिर जाते हैं—यह प्रताप है। (प्र० सं० में हमने *'गर्भ स्रवहिं अवनिप रवनि सुनि कुठारु गति घोर॥'* (२७९) यह उदाहरण दिया था। परंतु यह आगे कहेंगे, अभी कहा नहीं है। अतः यहाँ यह ठीक नहीं है।) *'भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही'* यह बल है [*'सहसबाहु भुज छेद निहारा'* (प्र० सं०)] और *'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित क्षत्रियकुलद्रोही॥'* यह रोष है—(इस प्रकार अपना प्रताप, बल और रोष तीनों कह चुके)। हमारे कहनेसे नहीं मानता अतएव हमको दोष नहीं है। यदि तुम बचाना चाहो तो तुम मना करो। (ख) *'जौ चहहु उबारा'* इति। तुम बचाना चाहो तो बचा लो। भाव कि न बचानेसे तुमको दोष लगेगा, क्योंकि यदि अपने सामने किसीके प्राण जाते हों तो बचाना चाहिये, न बचानेसे दोष लगता है। (इसके प्राण तुम्हारे सामने ही जानेवाले हैं, अतएव तुम्हारा धर्म है इसे बचाना) दूसरे यह तुम्हारे साथ आया है, अतः तुम्हें इसको बचाना चाहिये, अतः *'तुम्ह हटकहु'।* यही उपाय है जिससे वह बच सकता है। किस प्रकार मना करो यह आगे कहते हैं- *'कहि प्रताप……'।* (ग) *'कहि प्रताप बल रोष हमारा'* इति। इससे सूचित करते हैं कि परशुरामजी अपने प्रताप-बल-रोषके अभिमानसे परिपूर्ण भरे हुए हैं। [पुनः, भाव कि यह कहकर न मना करो कि ब्राह्मण हैं, जाने दो, अब कुछ न कहो, किंतु हमारा *'बल प्रताप रोष'* कहकर इसका मुँह बंद करो, समझा दो कि अपने बलका अभिमान न करे कि धनुष तोड़ डाला (प्र० सं०)] (घ)—पुनः, भाव कि निरंकुश है, अतः *'तुम्ह हटकहु'* और *'अबुध'* है, अतः हमारा बल-प्रताप-रोष कहो, ज्ञान होनेपर शंकित होगा।

लषन कहेउ मुनि सुजसु तुम्हारा। तुम्हहि अछत को बरनै पारा॥ ५॥
अपने मुँहु तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु* बरनी॥ ६॥

शब्दार्थ—पारा=सकना, यथा—*'बाली रिपु बल सहै न पारा॥'* (४। ६) *'सोक बिबस कछु कहै न पारा। हृदय लगावत बारहिं बारा॥'* (२। ४४)

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने कहा—हे मुनि! आपके रहते हुए आपका सुयश कौन वर्णन कर सकता है?॥ ५॥ (आपने) अपने मुँहसे अपनी करनी बहुत प्रकारसे अनेक बार वर्णन की॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'लषन कहेउ……'* इति। (क) सर्वत्र लक्ष्मणजीका मुसकराकर बोलना लिखा गया। यथा—*'सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने।'* (२७१। ६) *'लषन कहा हँसि हमरे जाना।'* (२७२। १) *'बिहँसि लषन बोले मृदु बानी।'* (२७३। १) परन्तु यहाँ हँसना नहीं लिखा, कारण कि इस समय वे कठोर वचन बोलनेको हैं [अभीतक हँसकर मृदु वचन बोलते रहे, पर परशुरामजीने अबकी गालियाँ दीं। *'मंद'*, *'कुटिल'*, *'कुलकलंक'*, *'अबुध'*, *'असंक'* आदि गालियाँ हैं। लक्ष्मणजीने कहा ही है—*'गारी देत न पावहु सोभा॥'* (चौ० ८) इसीसे अब ये भी कठोर वचन बोलते हैं, यथा—*'सुनत लषन के बचन कठोरा।'* (२७५। २) कठोरतामें हँसी कहाँ?](ख) *'सुजसु तुम्हारा……'* इति। भाव कि जब आप अपना सुयश अपने मुँह कहते

* तुम्ह—१७०४।

सकुचावें तब कोई दूसरा कहे, जैसा आपसे अपना सुयश कहते बनेगा वैसा दूसरेसे कब कहते बनेगा, क्योंकि जितना आप जानते हैं उतना दूसरा जानता भी नहीं। [पुनः भाव कि आप कौशिकजीसे कहते हैं कि आपका सुयश-प्रताप, बल-रोष कहें सो वे भजन करें कि आपका सुयश वर्णन करें, इससे आप ही वर्णन करते जाइये, जबतक वर्णन करते बने](ग) परशुरामजीके अन्तिम वचन ये हैं—'*तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा। कहि प्रतापु बलु रोषु हमारा॥*'—ये वचन सबसे निकट पड़े और न सह सकनेवाले हैं। इसलिये लक्ष्मणजीने प्रथम इन्हींका उत्तर दिया कि '*सुजसु तुम्हारा*……।'

टिप्पणी—२ '*अपने मुँहु*' इति। (क) '*तुम्हहि, अछत को बरनै पारा*' इस कथनसे निन्दा स्पष्ट न हुई किंतु इन शब्दोंसे बड़ाई सूचित हुई कि आपका सुयश भारी है (अपार है), इसीसे आपके अतिरिक्त दूसरा कौन कहनेको समर्थ हो सकता है। इसीसे अब प्रकट करके निन्दा कहते हैं। '*अपने मुँहु*……*करनी*' का भाव यह है कि दूसरेके मुखसे अपना सुयश सुननेमें संकोच होता है (लाज लगती है, इसीसे आप अपने ही मुँहसे वर्णन करते हैं, किसीसे सुनते नहीं। यह व्यंग्य है)। पुनः भाव कि शिष्ट लोग तो अपना सुयश एक बार भी किसीको सूचित करते हुए सकुचाते हैं (इतना ही नहीं किंतु दूसरेके मुखसे सुनकर संकोचको प्राप्त होते हैं) पर आप बारम्बार स्वयं ही वर्णन करते हैं। इससे जनाया कि आपकी गणना श्रेष्ठ लोगोंमें नहीं हो सकती, यह काम नीचोंका है, निर्लज्जताका है। यथा—'*लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥*' (६। २९) (ख) '*बार अनेक भाँति बहु बरनी*' इति। अनेक बार कही, यथा—'*बाल ब्रह्मचारी अति कोही*'—(१), '*बिश्व बिदित क्षत्रियकुल द्रोही*—(२), '*भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही*'—(३), '*बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही*'—(४), '*सहसबाहु भुज छेदनिहारा*………' (५), '*गर्भन्हके अर्भक दलन परसु मोर अति घोर*'—(६) इत्यादि। (ग) उपर्युक्त चारों चरणों ('*लषन कहेउ*……*बरनी*') का एक साथ आशय यह है कि अपने मुख अपना सुयश कहकर आप उसका नाश कर रहे हैं। अपना यश कहनेसे यशका नाश होता है, यथा—'*जनि जल्पना करि सुजस नासहि॥*' (६। ८९)

नोट—आत्मश्लाघाकी निन्दापर यह श्लोक है—'**न सौख्यसौभाग्यकरा गुणा नृणां स्वयं गृहीताः सुदृशांस्तना इव। परैर्गृहीता हि नयं वितन्वते न ते नु गृह्णन्ति निजं गुणं बुधाः॥**' (सु० र० भा०)

नहि संतोषु त पुनि कछु कहहू*। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥ ७॥
बीरब्रती तुम्ह धीर अछोभा। गारी देत न पावहु सोभा॥ ८॥
दो०—सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।
बिद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहि† प्रतापु॥ २७४॥

शब्दार्थ—**बीरब्रती**=(वीरवृत्ति) वीरोंका व्रत एवं बाना धारण करनेवाले; वीरोंका स्वभाव और बर्ताव करनेवाले। **अछोभा**=(अक्षोभ)=क्षोभ (चञ्चलता) रहित। **बिद्यमान**=उपस्थित।

अर्थ—इतनेपर भी संतोष न हुआ हो तो फिर कुछ कहिये। क्रोधको रोककर कठिन दुःख न सहिये॥ ७॥ आप वीरवृत्ति हैं, धीर हैं, अक्षोभ हैं। गाली देते हुए (आप) शोभा नहीं पाते॥ ८॥ शूरवीर (तो) संग्राममें करनी करते हैं (कर्तव्य दिखाते हैं), कहकर अपनेको नहीं जनाते। रणमें शत्रुको सम्मुख उपस्थित पाकर कायर ही अपना प्रताप कथन करता है॥ २७४॥

टिप्पणी—१ '*नहिं संतोषु त*………' इति। (क) भाव कि इतना सुयश कथन कर चुकनेपर भी दूसरे (कौशिकजी) से कहनेको कहा, इससे स्पष्ट पाया गया कि अभी संतोष नहीं हुआ। '*त पुनि कछु कहहू*'—

---

* कहहु सहहु—१६६१

† करहिं प्रलाप—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। कथहि प्रताप—१६६१।

भाव कि रहा-सहा जो बाकी हो वह भी कह डालिये, अथवा अनेक भाँतिका कह चुके हैं, अब और भाँतिका भी कुछ कहिये। तात्पर्य कि फिर कह डालनेसे संतोष हो जायगा। (ख) *'जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू'* इति। भाव कि क्रोधसे जो कुछ मनमें आता है उसे कह डालनेसे क्रोध निकल जाता है (शान्त हो जाता है)। यदि वचनद्वारा क्रोध नहीं निकाल दिया जाता तो वह क्रोध हृदयमें रुका रहनेसे हृदयको जलाता रहता है। *'दुसह दुख'* का भाव कि सामान्य क्रोध होता है तो सामान्य दु:ख होता है और भारी क्रोधसे भारी दु:ख होता है। आपका क्रोध भारी है, यथा—*'बाल ब्रह्मचारी अति कोही।'* अत्यन्त क्रोध है, इसीसे दु:सह दु:ख होता है। तात्पर्य कि सब कह डालनेसे क्रोधका दु:ख चला जायगा, यथा—*'कहेहू ते कछु दुख घटि होई।'* (५। १५) (ग) अपना सुयश समझकर परशुरामजीको रिस होती है। उन्हें गर्व है कि हमने सहसबाहुको मारा, पृथ्वीको नि:क्षत्रिय किया, हमारा कुठार घोर है, इत्यादि; पर यह लड़का होकर हमें कुछ नहीं समझता, यह सोचकर रिस होती है। (घ) *'नहि संतोषु……सहहू'*— इन वचनोंसे लक्ष्मणजीने उनको निर्लज्ज, क्रोधी, प्रलापी, अज्ञानी, गम्भीरतारहित इत्यादि दोषोंसे युक्त जनाया। (ङ) यहाँतक *'तुम्ह हटकहु जौं……'* का उत्तर हुआ।

श्रीलमगोड़ाजी—परशुरामजीके अपनी प्रशंसावाले दोषकी इसमें कैसी अच्छी चुटकियाँ हैं? आगे अपशब्दसम्बन्धी चुटकियाँ देखिये।

टिप्पणी—२ *'बीरब्रती तुम्ह……'* इति। (क) वीर होनेसे धीरता और अक्षोभता आ जाती है। वीरमें ये दोनों गुण होते हैं। आप वीरवृत्ति हैं, अत: धीर हैं, यथा—*'सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहि॥'* (२। १९१) और धीर हैं, अत: अक्षोभ हैं (अर्थात् क्रोधादिके वेगसे चञ्चल वा) चलायमान नहीं हैं। पुन:, *'बीरब्रती, धीर अछोभा……'* के क्रमका भाव कि वीरोंकी मति धीर रहती है, यथा—*'ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा॥'* (५। ३) और तन चलायमान नहीं होता, यथा—*'चला न अचल रहा पद रोपी।'* (ख) *'गारी देत न पावहु सोभा'* इति। भाव कि ऐसे वीरोंकी शोभा गाली देनेसे नहीं होती, वरंच करनी करनेसे होती है, जैसा आगे कहते हैं—*'सूर समर……।'* (ग) ☞परशुरामजीने जो कुलघालक इत्यादि कहा है, उसका उत्तर इस अर्धालीमें दिया गया है। प्रथम तो ब्राह्मण कहकर वीरबाना बाँधने (धारण करने) की निन्दा की थी—*'कोटि कुलिस……कुठारा।'* अब यहाँ वीरवृत्ति होनेसे गाली देनेकी निन्दा की। इस प्रकार जनाया कि न तुम्हारे ब्राह्मणरूपकी शोभा है और न वीररूपकी ही शोभा है। [भाव यह है कि वीरोंका बाना धारणकर आपने ब्राह्मणधर्मकी शोभा नष्ट कर डाली। यही नहीं ब्राह्मणधर्म गया तो गया, भला वीर ही बने रहते सो भी न रह गये। गाली देकर वीरताकी शोभा भी नष्ट कर डाली। तात्पर्य कि इसके रहे न उसके, दीन और दुनिया दोनोंसे गये। ब्राह्मणरूप तथा वीररूप दोनोंहीको दूषित कर डाला।] (घ) *'न पावहु सोभा'* में भाव यह है कि ब्राह्मणत्व अथवा वीरत्वके शोभाकी लज्जा होती तो आप लज्जित होते, पर आपको तो लज्जा छू नहीं गयी, शोभा भी आपसे लज्जित हो गयी।

प० प० प्र०—गाली देना अशुचिता है। इस (*'गारी देत न पावहु सोभा'*) से शौचका अभाव दिखाया।

टिप्पणी—३ *'सूर समर करनी करहिं……'* इति (क) *'सूर……आपु'* पूर्वार्धमें वीरका लक्षण कहा और *'बिद्यमान……'* उत्तरार्धमें कायरका लक्षण कहा। दोनोंके लक्षण कहकर सूचित किया कि आपमें कायरके लक्षण हैं, वीरके नहीं। कायर=कादर जैसे मयन=मदन। (ख) प्रथम कहा कि वीरकी शोभा गाली देनेसे नहीं होती और अब कहते हैं कि कहकर जनानेसे भी उसकी शोभा नहीं है। *'कहि न जनावहिं'*— भाव कि करनी करके जनाते हैं, रणमें करनी दिखानेसे ही उसकी शोभा है। (ग) *'कौशिक सुनहु'* से *'अबुध असंकू'* तकका उत्तर *'बीरब्रती……सोभा'* है और *'कहि प्रताप बल रोष हमारा'* का उत्तर *'सुर……प्रतापु'* है।

नोट—१ परशुरामकी कायरता व्यञ्जित करना 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग' है कि पुरुषार्थ करके दिखलाओ,

उसे बाकी न रख छोड़ो। गाली बककर अपने वीरत्वमें धब्बा न लगाओ।—(वीरकवि) रावणने जब रामचन्द्रजीके आगे शेखी बघारी, तब उन्होंने भी ऐसा ही कहा था, यथा—'*तब लंकेस क्रोध उर छावा। गरजत तरजत सनमुख धावा॥ रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥ आजु करउँ खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले॥ सुनि दुर्बचन कालबस जाना। बिहँसि बचन कह कृपानिधाना॥ सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जलपसि जनि देखाउ मनुसाई॥ जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा। संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा॥ एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं। एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥*' (६। ८९)

तुम्ह तौ कालु हाँक जनु लावा। बार बार मोहि लागि बोलावा॥ १॥
सुनत लषन के बचन कठोरा। परसु सुधारि धरेउ कर घोरा॥ २॥
अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू। कटुबादी बालकु बध जोगू॥ ३॥

शब्दार्थ—**हाँक लावा**=हाँक लाये हो।=हाँक लगायी है। पुकार लगायी है। **लागि**=लिये।

अर्थ—तुम तो मानो कालको हाँक लाये हो, बार-बार मेरे लिये उसे बुलाते हो॥ १॥ श्रीलक्ष्मणजीके कठोर वचन सुनते ही (परशुरामजीने) घोर फरसेको सुधारकर हाथमें धारण किया॥ २॥ (और सब लोगोंको सम्बोधन करते हुए बोले—) लोग अब मुझे दोष न दें। कड़वे वचन बोलनेवाला बालक मार डालने ही योग्य है॥ ३॥

टिप्पणी—१ '*तुम्ह तौ कालु*……' इति। (क) (हाँकना शब्द पशुके लिये प्रयुक्त होता है) पशुको प्रेरित करना 'हाँकना' कहलाता है। (इस तरह यह काल पशु है। परशुरामजी उसके स्वामी वा प्रेरक हुए और लक्ष्मणजी घास-तृण आदि चारा हुए। तात्पर्य कि ऐसा जान पड़ता है कि मेरा काल आपके वशमें है, आप उसे पशुकी नाईं हाँक लाये हैं और उसे प्रेरित करते हैं कि मुझे खा ले।) आशय यह कि आपने मुझे तृणके समान असमर्थ समझ लिया है और समझते हैं कि आपके कहनेसे वह हमें आकर चर लेगा। (ख) '*बार बार मोहि लागि बोलावा*' इति। भाव यह कि [आप तो स्वामी अथवा चरवाहेकी तरह उसे बार-बार चरनेको बुलाते हैं; यथा—'*रे नृपबालक काल बस*……', '*कुटिल काल बस निज कुल घालक*', '*काल कवल होइहि छन माहीं*', पर वह आता नहीं, कारण कि] उसे अभी भूख नहीं लगी है। इसके अभ्यन्तर अभिप्राय यह है कि हमें वह भी डरता है, क्योंकि हम उसके भी भक्षक हैं। यथा—'*कह रघुबीर समुझ जिय भ्राता। तुम्ह कृतांत भच्छक सुरत्राता॥*' (६। ८३) इसीसे डरके मारे हमारे समीप नहीं आता कि कहीं मैं ही उसे खा न जाऊँ।

टिप्पणी—२ '*सुनत लषन के बचन कठोरा*……' इति। (क) पूर्व लक्ष्मणजी मृदु वचन कहकर अपमान करते रहे, यथा—'*बिहँसि लषन बोले मृदु बानी।*' जब परशुरामजीने गालियाँ दीं तब न रहा गया, इन्होंने कठोर वचन कहे। (२७४। ५ '*लषन कहेउ मुनि*……' में देखिये) (ख) '*परसु सुधारि धरेउ कर*'— भाव कि जब रंगभूमिमें आये थे तब फरसा कंधेपर था, यथा—'*धनु सर कर कुठार कल काँधे।*' (२६८। ८) अब उसे हाथमें लिया। '*सुधारि धरेउ*' अर्थात् जोरसे हाथमें लेकर उसकी धार शत्रुकी ओर की। (ग) 'धनुष और बाण तो हाथमें था, उससे क्यों न मारनेपर तत्पर हुए—इसका कारण यह है कि बाणसे कुठार अधिक भयानक है (बाण घोर हैं और कुठार 'अति घोर' है), यथा—'*गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर।*' (२७२) अतः धनुष-बाणको छोड़कर फरसेको हाथमें लिया। अभी मारना नहीं है, केवल भय दिखानेके लिये उसे हाथमें लिया है। दूसरे, फरसेसे ही पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया है, सहस्रबाहु आदिको मारा—काटा है, यथा—'*समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भये पसु आई॥ मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हें।*' (१। २८३) और लक्ष्मणजी भी तो राजकुमार ही हैं, इसीसे इन्हें भी (मानो) काटनेके लिये फरसेको हाथमें लिया।

लमगोड़ाजी—'अब दोनों अवगुणों-(निजप्रशंसा और लक्ष्मणजीके लिये अपशब्दोंका प्रयोग-) की एक साथ टीपकी चुटकी देखिये—*'सूर समर''''''बोलावा'* अब तो लक्ष्मणजीके शब्दोंमें भी कुछ सख्ती (कड़ापन) आ गयी, जैसा कि 'कायर' और 'तुम्ह' शब्दोंसे प्रकट है।

परशुरामके बराबर फरसा दिखाने और मारनेकी धमकी देनेका मखौल। *'तुम्ह तौ काल हाँक जनु लावा। बार बार मोहि लागि बोलावा॥'* में किस प्रकार दिखाया गया है। इन शब्दोंका जो प्रभाव परशुरामपर पड़ा उसे कविने यों व्यक्त किया है—*'सुनत''''''घोरा'।* इस फरसेके फिर सुधारनेमें अति क्रोधकी वही लाचारी है जिसपर हँसी आये बिना नहीं रहती। चित्रमें कितनी फिल्मकला है, यह भी दर्शनीय है। जब कौशिकजी भी बीचमें न पड़े, तब परशुरामजी न मारनेका और बहाना खोजते हुए जनताको सम्बोधित करते हैं—*'अब जनि''''''*'।

टिप्पणी—३ *'अब जनि देइ दोसु''''''*' इति। (क) भाव कि बालक अवध्य है [२७२। ५ *'बालकु बोलि''''''*' में प्रमाण देखिये], यह जानकर अबतक नहीं मारा। पर अब कटु वचन बोलनेसे वह अवध्य न रह गया, वधयोग्य हो गया। कटुवादीका वध उचित है, यथा—*'सुनि कपि बचन बहुत खिसियाना। बेगि न हरहु मूढ़कर प्राना॥'* (५। २४) *'मन महुँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोर बचन सठ तोरे॥ नाहिं त करि मुख भंजन तोरा। लै जातेउँ सीतहि बरजोरा॥'* (६। ३०) *'परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसियान।'* (५। ९) पुन: *'अब जनि देइ दोसु''''''*' का भाव कि प्रथम निर्दोश होनेके लिये पुकारकर कह दिया, यथा—*'कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं।'* (२७४। ३) इसीसे अब कहते हैं कि अब मुझे दोष न देना। पूर्व मारते तो अवश्य दोष देना उचित था पर अब कोई दोष न देगा। (ख) परशुरामजी लोक और वेद दोनोंसे शुद्ध बनते हैं, दोनोंसे अपनेको निर्दोष ठहराते हैं। *'अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू'* यह लोकसे शुद्ध (निर्दोष) और *'कटुबादी बालक बध जोगू'* यह वेदसे निर्दोष होनेके लिये कहा।

बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब येहु मरनिहार भा साँचा॥ ४॥
कौसिक कहा छमिअ अपराधू। बाल दोष गुन गनहिं न साधू॥ ५॥

शब्दार्थ—बाँचा=बचाया, यथा—*'सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची॥'* (६। ८८)

अर्थ—बालक देखकर मैंने इसे बहुत बचाया, अब यह सत्य ही मरनेवाला हो गया (मरनेको आ गया)॥ ४॥ कौशिकजीने कहा—अपराध क्षमा कीजिये। साधु लोग बालकके दोष और गुण नहीं गिनते॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'बाल बिलोकि''''''*' इति। (क) भाव कि बालकको न मारना चाहिये, उसको बचाना चाहिये, इससे मैंने उसे बहुत बचाया। *'अब येहु मरनिहार भा साँचा'* अर्थात् अबतक तो बचानेके विचारसे मैं धमकाता भर रहा, पर अब हम कटुवादीको नहीं छोड़ेंगे। पूर्व जो कहा था कि *'अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू'* उसका अब हेतु बताते हैं कि *'अब येहु मरनिहार भा साँचा'।* (ख) पूर्व कहा था—*'बालक बोलि बधौं नहिं तोही'* और यहाँ कहते हैं—*'बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा'।* दो तरहके कथनमें भाव यह है कि जब इसने शिवधनुषको धनुही कहा तब इसे बालक जानकर बचा दिया कि यह लड़का है, श्रीशिवजीके धनुषकी महिमा नहीं जानता। जब यह आप तो वीर बना, यथा—*'देखि कुठार सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना॥'* इत्यादि और हमारे धनुष-बाण-कुठार धारण करनेको व्यर्थ बताया, तब भी हम बालक देख बचा गये कि छोटा लड़का है, वीरताकी बातें करता है। परंतु अब यह कटु वचन बोलने लगा है, अत: अब न बचायेंगे। (ग) *'साँचा'* का भाव कि अबतक बचाते आये इससे हमारा वचन झूठा होता गया, पर अब हम सत्य ही मारनेवाले हैं, अत: यह अब सत्य ही मरनेवाला है।

नोट—१ परशुरामजीने कौशिकसे निहोरा किया; उनसे शिकायत की, इससे वे ही बोले। इनके वचन बड़े विचारके हैं। लक्ष्मणजीने कोई अपराध तो किया नहीं तो उनको कैसे डाँटें या मना करें और यदि परशुरामजीको दोष लगावें और समझावें तो वे चिढ़ते कि बालकको तो समझाते नहीं, उलटे हमको ही समझाते हैं। अतएव कहा कि आप साधु हैं, आप क्यों न बचावें, आपका यह सहज कर्तव्य

ही है, पर जैसे अबतक बचाया वैसे ही इसके अपराध क्षमा कीजिये। इस प्रकार लक्ष्मणजीको क्षमा दिलायी (प्र० सं०)। 'कौशिक' ही सम्बोधन परशुरामजीने किया था—*'कौशिक सुनहु मंद येहु बालकु'*, इसीसे कविने भी यहाँ 'कौशिक' ही नाम दिया। दोनों जगह 'कुश' राजाका सम्बन्ध है।

टिप्पणी—२ (क) *'छमिअ अपराधू'*— भाव कि बालक स्वयं ही अपराध क्षमा करनेकी प्रार्थना कर रहा है, यथा—*'जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर।'* (२७३) यदि आप क्षमा करें तो सब विवाद ही मिट जाय। कटु वचन बोलनेका अपराध श्रीलक्ष्मणजीमें है, इसीसे क्षमा करनेको कहते हैं। (ख) *'बाल दोष गुन गनहिं न साधू'* इति। परशुरामजीने जो कहा कि बालक जानकर-देखकर मैंने इसे बचाया—*'बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा'*, उसीका यह उत्तर है। भाव यह कि आप साधु हैं इसीसे आपने बचाया, आप क्यों न बचावें, आपका तो यह सहज स्वभाव ही है, कर्तव्य ही है, जैसे अबतक आपने बालकके दोषोंपर ध्यान नहीं दिया, वैसे ही अब भी अपराध क्षमा कर दीजिये। (ग) विश्वामित्रजीने परशुरामजीके सब वचन साधुतामें घटाये (लगा दिये), उनको साधु कहा और लक्ष्मणजीको अपराधी कहा, इसीसे वे प्रसन्न होकर विश्वामित्रजीकी बड़ाई करते हैं, यथा—*'उतर देत छोड़ौं बिन मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥'*

नोट—२ यहाँ शङ्का होती है कि 'गुण' को क्यों नहीं लेते? कहा भी है कि *'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं'*। यहाँ बालकके गुण-दोषका प्रसंग है। बालककी अज्ञान दशा होती है। उसे गुण या दोषका किंचित् भी खयाल नहीं होता। हाँ, और लोग गुण देख प्रसन्न होते हैं, पर साधु बालकके गुणोंका भी कुछ खयाल नहीं करते, क्योंकि उसका बोध बालकको नहीं है। अज्ञान-दशामें वे कर्म उससे हो रहे हैं कि जिनको हम गुण समझते हैं, इसीसे साधु बालकके गुणको नहीं मानते। जब गुण नहीं मानते तब उसे ग्रहण कैसे करें? अथवा, दोष-गुण बोलनेकी चाल है, यथा—*'कहहु सुताके दोष गुन'*……।' (६६) *'कहहु नाथ गुन दोष सब एहिके हृदय बिचारि।'* (१३०) पुनः *'दोष गुन गनहिं न साधू'* का भाव कि अन्य लोग दोष और गुण दोनों ग्रहण करते हैं। दोष देखकर ताड़ना करते हैं और गुण देखकर प्रसन्न होते हैं। इसके अभ्यन्तर आशय यह है कि आप उसका दोष विचारते हैं, यथा—*'कटुबादी बालक बध जोगू।'* अतएव आप साधु नहीं हैं, साधु होते तो उसके वचनोंपर तरह दे जाते।

खर* कुठार मैं अकरुन† कोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही॥ ६॥
उतर देत छोड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥ ७॥
न त येहि काटि कुठार कठोरे। गुरहि उरिन होतेउँ श्रम थोरे॥ ८॥

शब्दार्थ—**खर**=तीक्ष्ण। **अकरुन** (अकरुण)=करुणारहित, निर्दय। **उरिन** (उऋण)=ऋणसे उद्धार होनेवाला, ऋणरहित।

अर्थ—(परशुरामजी बोले—एक तो) तीक्ष्ण फरसा, (दूसरे) मैं निर्दय क्रोधी, (उसपर भी) गुरुका द्रोही अपराधी सामने॥ ६॥ उत्तर दे रहा है। उसे बिना मारे छोड़ रहा हूँ—हे कौशिक! यह केवल तुम्हारे शील (मुलाहिजा संकोच) से॥ ७॥ नहीं तो इसे कठोर कुठारसे काटकर थोड़े ही परिश्रमसे गुरुसे उऋण हो जाता॥ ८॥

नोट—१ *'खर……अकरुन'* पाठ सं० १६६१ की पोथीका है। *'कर……अकरुन'* पाठ भा० दा० ने दिया है, जिसे श्रीअयोध्याजीके रामायणी श्रीरामबालकदासजीने अपनाया है। *'कर कुठार'* का भाव यह है कि कंधेपरसे कुठार हाथमें आ चुका है, यथा—*'परसु सुधारि धरेउ कर घोरा।'* जब मैं उसे हाथमें लेता हूँ तब शत्रुको अवश्य मारता हूँ। और *'अकरुन कोही'* का भाव यह है कि मुझे तो बिना कारण ही क्रोध आता है, उसपर भी यहाँ क्रोधका कारण भी उपस्थित है। अपराधीको देखकर क्रोध होता ही है और अपराधी सामने है। पुनः, उत्तर-प्रत्युत्तरसे क्रोध होता है, यथा—*'उत्तर प्रति उत्तर मैं*

---

* कर। † अकरन—१७०४, १७२१, छ०, को० रा०। अकारन-१७६२।

कीन्हा। मुनि तन भए क्रोधके चीन्हा॥' (७। १११) और यह बालक बराबर उत्तर-पर-उत्तर दे रहा है—यह क्रोधका दूसरा कारण है। पुनः *'अकरुन कोही'* का भाव कि जितना क्रोध औरोंको कारण पाकर होता है, उतना तो मेरे बिना कारण हर समय ही बना रहता है।

नोट—२ *'आगे अपराधी गुरुद्रोही'* इति। ये दो बातें मानो दो सूत्र हैं, जिनकी व्याख्या अगली अर्धालियोंमें की गयी है। कटु वचन कहता है इससे अपराधी है। गुरुके धनुषका धनुही कहकर अपमान किया, धनुष तोड़ा, अतः गुरुद्रोही है। ☞यहाँ पोथीमें शुद्ध 'गुरु' शब्द दिया है, इसपर विचार करें।

श्रीलमगोड़ाजी—कौशिकजीके बोलनेसे परशुरामजीको तनिक सहारा मिला और निर्बलताने विश्वामित्रजीका निहोरारूपी बहाना ढूँढ़ लिया। आह! परशुरामजीकी कटुवादिता, अहंकार और क्रोध अब भी न गये। *'अकरुन कोही'* साफ बता रहा है कि अब भी अपना दोष गुणरूपमें दिख रहा है, नहीं तो कौन है जो अपने अकारण क्रोधकी प्रशंसा करे (प्र० सं० में *'कर''''अकरन'* पाठ था)।

टिप्पणी—१ *'उत्तर देत छोड़ौं''''''* इति। (क) भाव कि जो उत्तर देकर अपमान करे उसका वध करना ही चाहिये, यथा—*'सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥'* (५। १०) पर मैं छोड़े देता हूँ। (ख) *'केवल'* कहनेका भाव कि इसे मारनेके अनेक कारण हैं—हाथमें तीक्ष्ण कुठार है, मुझे क्रोध है, अपराधी गुरुद्रोही आगे खड़ा हुआ उत्तर दे रहा है। पर इसके बचनेका कोई कारण नहीं है, 'केवल' एक मात्र तुम्हारा शील-संकोच बचानेका कारण है, तुम्हारे शीलसे हमारे दया आ गयी। तुम हमें साधु कहते हो और इसे क्षमा करनेकी प्रार्थना करते हो, नहीं तो इसे मारनेमें हमें कुछ भी संकोच न होता।

टिप्पणी—२ *'न त येहि काटि''''''* इति। [(क) *'न त'* का भाव कि तुम्हारे शील-संकोचवश हम गुरुके ऋणी बने रहते हैं] यहाँ क्रमसे *'अपराधी'* और *'गुरुद्रोही'* की व्याख्या करते हैं। उत्तर देता है, अतः अपराधी है—इसीपर कहा कि *'उतर देत छोड़ौं बिनु''''''।'* 'गुरुद्रोही' है—इसपर कहते हैं *'न त येहि''''।'* (ख) प्रथम अपना क्रोध कहा, *'खर कुठार मैं अकरुन कोही।''* अब क्रोधका फल कहते हैं—*'न त''''''।'* शत्रुको मारना क्रोधका फल है, यथा—*'येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा। तो मैं काह कोपु करि कीन्हा॥'* (२७९। ८) कहनेका आशय यह है कि हमने ऐसे क्रोधका फल केवल तुम्हारे शीलवश व्यर्थ किया (अर्थात् जाने दिया)। (ग) *'कुठार कठोरे'* इति। लक्ष्मणजी कठोर वचन बोल रहे हैं, यथा—*'सुनत लषन के बचन कठोरा।'* इसी सम्बन्धसे कुठारको 'कठोर' विशेषण देकर जनाते हैं कि ऐसे कठोरवादीको 'कठोर कुठार' से काटते। [जैसे यह कठोर वचन बोलता है, वैसे ही 'कठोर कुठार' से इसका वध उचित है। हम तो अकरुन क्रोधी हैं ही, हमारा कुठार भी इसके लिये दयारहित है। (प्र० सं०)](घ) *'श्रम थोरे'*— भाव कि पितासे उऋण होनेमें बहुत परिश्रम पड़ा, गुरुऋणसे थोड़ेहीमें उद्धार हो जाता।

दोहा—गाधिसूनु* कह हृदय हँसि मुनिहि हरियरे† सूझ।
अयमय‡ खाँड न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ॥ २७५॥

शब्दार्थ—**गाधिसूनु**=राजा गाधिके पुत्र, विश्वामित्रजी। **हरियरे**=हरा-ही-हरा। **अय** (अयस्)=लोहा, फौलाद।

---

* सुवन—१७०४। † हरिअरेइ—१७२१, १७६२। हरिअरइ-छ०, को० रा०। हरिअँरै-१७०४। हरियरे—१६६१। ‡ अयमय खाँड़ न ऊखमय-१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। अजगव खंडेउ ऊख जिमि पाठान्तर।

यह पाठ प्राचीनतम पोथियों (सं० १६६६, काशिराजकी रा० प०, भागवतदासजी इत्यादि) और ना० प्र० सभाकी प्रति (प्रथम शुद्ध संस्करण) में भी है। किसी-किसी पुस्तकमें 'अजगव खंडेउ ऊख जिमि' पाठ छपा हुआ देखनेमें आता है। 'अजगव' ये दोनों नाम शंकरजीके धनुषके ही हैं, यथा—'पिनाकोऽजगवं धनुः' इत्यमरः।

श्रीलमगोड़ाजीके मतानुसार 'अजगव खंडेउ''''''' पाठमें प्रसारगुण बहुत है और दूसरे पाठमें खींचातानी। फिर 'ऊखमय' में 'मय' बिलकुल कृत्रिम दिखता है और बैठता नहीं।' अन्य टीकाकारोंके मतानुसार प्राचीनतम पाठ ही विशेष भावगर्भित है और प्राचीन तो है ही, टिप्पणीमें भाव देखिये।

यथा—'**लोहोऽस्त्री शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डं कालायसायसीत्यमरः अस्यार्थः—लोहः। शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डकालायसं अयः अश्मसारः सप्त लोहस्य नामानि**'-(बैजनाथजी)। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'आयस' नाम लोहेका है; ग्रन्थकारने 'आयस' का 'अयस' किया, उसमें भी सकार लुप्त हो गया, 'अय' रह गया; जैसे '***अंगद हनू समेत***' में हनुमान्‌का हनु रह गया। '**खाँड**'=गुड़की दानेदार गीली शक्कर; तलवार, खड्ग, यथा—'***एक कुसल अति ओड़न खाँड़े।***' (२। १९१) '**ऊख**'=गन्नेकी एक किस्म है जिसके रससे गुड़, खाँड़, शक्कर आदि बनायी जाती है। '***अबूझ***' बेसमझ, अबोध, नादान, नासमझ।

अर्थ—विश्वामित्रजीने हृदयमें हँसकर हृदयमें कहा कि मुनिको हरा-ही-हरा सूझ रहा है। (यह बालक) लोहमय (फौलादका बना हुआ) खाँड़ है, (कुछ) ऊखमय (ऊखके रसकी) खाँड़ नहीं। नासमझ (परशुराम) को अब भी नहीं सूझता॥ २७५॥

टिप्पणी—१ (क) '***गाधिसूनु***' इति। [मुनि शान्त और गम्भीर होते हैं, उनको किसीपर हँसी कहाँ। हँसना राजस गुण है, अतः हँसीके योगसे राजपुत्र कहा। राजा कौतुकी होते हैं और कौतुक देखकर हँसते हैं, यथा—'***अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई॥***' (६। ५) (यहाँ बिहँसनेके सम्बन्धसे '***रघुराई***' रघुवंशके राजा कहा), पुनश्च—'***नाना जिनिस देखि सब कीसा। पुनि पुनि हँसत कोसलाधीसा॥***' (यहाँ पाँड़ेजी कहते हैं कि यह विशेषण अर्थानुकूल है, वे जानते हैं कि रामजी कौन हैं। अतः हृदयमें हँसकर कहते हैं] (ख) '***हृदय हँसि***' इति। परशुरामजी चिढ़े हुए हैं ही, प्रकट हँसनेसे और चिढ़ेंगे कि तुम भी हमारी हँसी करते हो। अतः हृदयमें हँसे। (ग) '***कह हृदय***', हृदयमें कहा क्योंकि '***अजहुँ न बूझ अबूझ***' ये शब्द प्रकट कहने योग्य न थे। हरियाली सूझना अन्धेका दृष्टान्त है, यथा—'***मोहि तो सावनके अंधेहि ज्यों सूझत रंग हरो।***' [सावनके अन्धेको हरा-ही-हरा सूझता है—यह लोकोक्ति है। सावनमें चारों तरफ घास आदिसे पृथ्वी हरी-भरी रहती है—***हरित भूमि तृन संकुल समुझि परै नहिं पंथ***' उस समय जिसने हरियाली देखी और फिर हरियाली देखते अन्धा हो गया तो ज्येष्ठ-वैशाखमें भी उसे हरा-ही-हरा सूझता है। '***अजहुँ न बूझ अबूझ***' एवं '***हरियरै सूझ***' कहकर परशुरामजीको अन्धा सूचित किया। परशुरामजीने पूर्व २१ बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया, सहसबाहु-सरीखे बलवान् क्षत्रियोंको भी मारा। वही अभिमान उनके हृदयमें भरा हुआ है। वे समझते हैं कि यह बालक भी तो क्षत्रिय ही है, इसे मारना क्या बात है? उनको नहीं सूझता कि 'बराबरी करने और बराबर निःशंक उत्तर देनेवाला उलटी-सीधी सुनानेवाला क्या कोई क्षत्रिय हो सकता है?'······ 'क्षत्रियसमाज तो संसारभरका यहीं एकत्र है। हमारे आते ही उन सबोंकी क्या दशा हो गयी, पर यह निडर है।' अतः इनको अन्धा कहते हैं और इनके ऊपर मनमें हँसते और कहते हैं कि '***अयमय खाँड न ऊखमय।***' 'खाँड़' दो प्रकारका है, एक ऊखमय, दूसरा लोहमय। 'खाँड़' के दोनों अर्थ हैं। '***अयमय खाँड न ऊखमय***' अर्थात् बड़े कठिनसे पाला पड़ा है, इसे ऊँखकी खाँड़ न समझना यह लोहेकी 'खाँड़' है] सब राजा ऊँखकी खाँड़ थे, जैसे उनको मार-काट डाला, वैसे ही इनको भी मारना चाहते हैं, यह नासमझी है। [ये लोहेकी खाँड़ हैं, फौलादमय है, भीतर-बाहर सब लोहा-ही-लोहा है। ऊँखकी खाँड़ मुँहमें रखते ही घुल जाती है, मीठी-मीठी लगी, इससे खा डाली गयी और लोहेकी खाँड़ तो मुँह काट और पेट फाड़ डालेगी। भाव कि क्षत्रिय तो वे भी हैं, पर क्षत्रिय-क्षत्रियमें भेद है जैसे ऊँखकी खाँड़ और लोहेकी खाँड़में भेद है।] परशुरामजीका मुँह कट जाना यह है कि लक्ष्मणजी प्रचारते हैं,—'***सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु। बिद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रतापु॥***' और परशुरामजीका हाथ नहीं चलता। तब भी वे नहीं समझते। यह उनका अज्ञान समझकर विश्वामित्रजी हँसे। शक्करकी तलवार हलवाई बनाते हैं और लोग उसे खाते हैं। जैसे उसके धोखेमें कोई अज्ञानी लोहेकी तलवारको मुँहमें रख ले तो उसका मुँह कट जाता है, वैसी ही परशुरामजीकी दशा है। वे अन्य सब राजाओंके धोखे इनको मारना चाहते हैं। यथा—'***जिमि अरुनोपल***

निकर निहारी। धावहिं सठ खग मांस अहारी॥ चोच भंग दुख तिन्हहिं न सूझा। तिमि धाए मनुजाद अबूझा॥' (६। ३९) जैसे लाल पत्थर देख पक्षीको मांसका धोखा हुआ वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मणजीका रूप देखकर परशुरामजीको मनुष्यका धोखा हुआ और जैसे शक्करकी तलवार खानेसे लोहेकी तलवारमें धोखा हुआ, वैसे ही परशुरामजीके सब राजाओंके मार लेनेसे लक्ष्मणजीमें धोखा हुआ कि उन्हींकी तरह इन्हें भी मार डालेंगे, ये भी उन्हींके समान हैं। ☞यदि केवल शक्कर कहते, शक्करकी तलवार न कहते तो शक्कर और तलवारका धोखा न होता, क्योंकि इन दोनों (शक्कर और तलवार) का एक रूप नहीं है, बिना एक रूप हुए धोखा नहीं होता। ☞लङ्काकाण्डके उपर्युक्त उद्धरणमें राक्षसोंका प्रसङ्ग है। राक्षसोंके अज्ञानपर मांसका दृष्टान्त दिया, क्योंकि राक्षस मांसाहारी हैं और यहाँ परशुरामके भ्रममें खाँड़का दृष्टान्त दिया, क्योंकि ये ब्राह्मण हैं और '**ब्राह्मणो मधुरप्रियः**' प्रसिद्ध ही है। वहाँ राक्षसोंको 'अबूझ' कहा, वैसे ही यहाँ परशुरामजीको 'अबूझ' कहा।

नोट—१ मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि ये ऊँखकी खाँड़ नहीं हैं जो चाटनेयोग्य हो, ये तो काटनेवाले हैं अर्थात् ये पञ्चभूतमय क्षत्रिय नहीं हैं। वरंच चिदानन्दमय हैं, ब्रह्ममय हैं और कोई-कोई 'ऊँखमय' का अर्थ यह करते हैं कि ऊँखकी लकड़ीकी बनी खड्ग नहीं है जिसे चूसकर फेंक दें।

श्रीलमगोड़ाजी—अब तो कौशिकजी भी हँसी न रोक सके, पर शील और सभ्यतावश उन्होंने उस हँसीको हृदयहीमें रखा। इस दोहेमें 'पृथक् संकेत' (aside) और 'स्वगत वार्ता (soliloquy) दोनोंका आनन्द है!'

कहेउ लखन मुनि सीलु तुम्हारा। को नहिं जान बिदित संसारा॥ १॥
माता पितहि उरिन भये नीकें। गुर रिनु रहा सोचु बड़ जीकें॥ २॥

शब्दार्थ—शील-उत्तम आचरण, सद्वृत्ति, मुरव्वत, स्वभाव। हिंसा आदिके परित्यागको भी शील कहते हैं।

अर्थ—लक्ष्मणजीने कहा—हे मुनि! आपका शील कौन नहीं जानता? (वह तो सारे) संसारमें प्रसिद्ध है॥ १॥ (आप) माता और पितासे तो अच्छी तरह उऋण हो (ही) गये। रहा गुरुका ऋण, (उसका) जीमें बड़ा सोच है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'सीलु तुम्हारा'* इति। कौन शील संसारभर जानता है, यह आगे कहते हैं—*'माता पितहि उरिन भये नीकें।'* [(ख) *'को नहिं जान........'* इस वाक्यसे 'शील' शब्दमें उसका वाच्यार्थ छोड़कर तद्विपरीत अर्थ प्रकट होता है कि आपको संसार दुःशील जानता है। इस तरह यह अर्थान्तर संक्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। (वीरकवि)] (ग) ये वचन परशुरामजीके *'उतर देत छोड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥'* (२७५। ७) इस वचनका उत्तर है।

नोट—१ *'माता पितहि उरिन भये नीकें'* इति। इस सम्बन्धकी कथा एक तो इस प्रकार कही जाती है—एक बार जमदग्नि ऋषिने अपनी स्त्री रेणुकाजीको नदीसे जल लानेको भेजा। वहाँ गन्धर्व-गन्धर्वणी विहार कर रहे थे। ये जल लेने गयीं तो उनका विहार देखने लग गयीं, इससे उन्हें लौटनेमें देर हुई। ऋषिने देरीका कारण जान लिया और यह समझकर कि स्त्रीको पर-पुरुषकी रति देखना महान् पाप है, अपने पुत्रोंको बुलाकर (एक-एक करके) आज्ञा दी कि माताको मार डालें, इस प्रकार सात पुत्रोंने इस कामको करना अङ्गीकार न किया। तब आठवें पुत्र परशुरामको आज्ञा दी कि इन सब भाइयोंसहित माताका वध करो। इन्होंने तुरत सबका सिर काट डाला। इसपर पिताने प्रसन्न होकर इनसे कहा कि वर माँगो। तब इन्होंने कहा कि 'मेरे सब भाई और माता जी उठें और इन्हें यह भी न मालूम हो कि मैंने इन्हें मारा था।' ऋषिने 'तथास्तु' कह सबको जिला दिया। वीरकविजीने लगभग यही कथा लिखी है।

परंतु महाभारतके वनपर्व अ० ११६ में लिखा है कि महर्षि जमदग्निका विवाह प्रसेनजित् राजाकी कन्या रेणुकासे हुआ, जिसके गर्भसे पाँच पुत्र हुए—रुमण्यवान् (श० सा० में समन्वान् नाम है जो सम्भवतः छापेकी अशुद्धि है) सुषेण, वसु, विश्वावसु और परशुराम। (श्लोक २, ३, ४, १०)

दूसरी कथा (जो वनपर्वमें है) इस प्रकार है—एक दिन रेणुका स्नान करनेके लिये नदीमें गयी थी, वहाँ उसने राजा चित्ररथको अपनी स्त्रीके साथ जलक्रीड़ा करते देखा और कामवासनासे उद्विग्न होकर घर आयी। जमदग्नि उसकी यह दशा देख बहुत कुपित हुए और उन्होंने अपने चार पुत्रोंको एक-एक करके रेणुकाके वधकी आज्ञा दी। पर स्नेहवश किसीसे ऐसा न हो सका। इतनेमें परशुराम आये। परशुरामने आज्ञा पाते ही माताका सिर काट डाला। इसपर जमदग्निने प्रसन्न होकर वर माँगनेके लिये कहा। परशुराम बोले 'पहिले तो मेरी माताको जिला दीजिये और फिर यह वर दीजिये कि मैं परमायु प्राप्त करूँ और युद्धमें मेरे सामने कोई न ठहर सके।' जमदग्निने ऐसा ही किया। (श० सा०, प्र० सं०)]

वनपर्व अ० ११६ में लिखा है कि परशुरामजीने यह वर माँगे कि 'माता जीवित हो जाय। उसको वधका स्मरण न रह जाय। हमको पापका स्पर्श न हो। सब भाई पुनः होशमें आ जावें। युद्धमें कोई मेरी बराबरी न कर सके। मैं दीर्घकालतक जीवित रहूँ।' महातपस्वी जमदग्निने उन्हें ये सब वर दिये। यथा—**'स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै। पापेन तेन चास्पर्शं भ्रातॄणां प्रकृतिं तथा। १७। अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत। ददौ च सर्वान् कामांस्ताञ्जमदग्निर्महातपाः'॥ १८॥**

एक दिन राजा सहस्रार्जुन जमदग्निजीके आश्रमपर आया। रेणुकाको छोड़ वहाँ कोई न था। कार्त्तवीर्य आश्रमके पेड़-पौधोंको उखाड़ होमधेनुका बछड़ा लेकर चल दिया। परशुरामने आकर जब यह सुना तब वे तुरंत दौड़े और जाकर कार्त्तवीर्यकी सहस्रभुजाओंको भालेसे काट डाला। उसके कुटुम्बियों और साथियोंने एक दिन आकर जमदग्निसे बदला लिया और उन्हें बाणोंसे मार डाला। परशुरामने आश्रमपर आकर जब यह देखा तब पहले तो बहुत विलाप किया, फिर सम्पूर्ण क्षत्रियोंके नाशकी प्रतिज्ञा की। उन्होंने शस्त्र लेकर सहस्रार्जुनके पुत्र-पौत्रादिका वध करके क्रमशः सारे क्षत्रियोंका नाश किया। (प्र० सं०)—(यह कथा जो प्रथम संस्करणोंमें दी गयी थी, इसका आधार सम्भवतः वनपर्वमें अकृतव्रणका कथन है। वे कहते हैं कि सहस्रार्जुनने रेणुकाके आतिथ्यसत्कारकी कुछ कीमत न करके आश्रमकी होमधेनुके डकराते रहनेपर भी उसके बछड़ेको हर लिया और वहाँके वृक्ष भी तोड़ डाले। परशुरामजीके आनेपर महर्षि जमदग्निने सब बात कही। उन्होंने होमकी गायको भी रोते देखा। अतः उन्होंने जाकर कार्त्तवीर्यको मारा। और अपने पिताके मारे जानेपर उन्होंने सम्पूर्ण क्षत्रियोंका संहार करनेकी प्रतिज्ञा कर पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया)।

[शान्तिपर्व और वनपर्वकी कथाओंमें किंचित् भेद भी है। शान्तिपर्व अ० ४८, ४९ में आपव ऋषिका शाप सहस्रार्जुनको हुआ है कि परशुराम तेरी सब भुजाएँ काटेगा। और अ० ४९ श्लोक ४५, ४६, ४७ में यह कथा है कि सहस्रार्जुनके लड़के गायको बलात् आश्रमसे पकड़ ले गये थे, सहस्रार्जुन यह बात नहीं जानता था।]

परशुरामकी इस क्रूरतापर ब्राह्मणसमाजमें इनकी निन्दा होने लगी। वे दयासे खिन्न हो वनमें चले गये। एक दिन विश्वामित्रके पौत्र परावसुने परशुरामसे कहा—'अभी जो यज्ञ हुआ था उसमें न जाने कितने प्रतापी राजा आये थे, आपने पृथ्वीको जो क्षत्रिय-विहीन करनेकी प्रतिज्ञा की थी, वह सब व्यर्थ थी।' परशुराम इसपर क्रुद्ध होकर फिर निकले और जो क्षत्रिय बचे थे उन सबका बाल-बच्चोंसहित संहार किया। गर्भवती स्त्रियोंने बड़ी कठिनतासे इधर-उधर छिपकर अपनी रक्षा की। क्षत्रियोंका नाश करके परशुरामने अश्वमेध-यज्ञ किया और उसमें सारी पृथ्वी कश्यपको दानमें दे दी। पृथ्वी क्षत्रियोंसे सर्वथा रहित न हो जाय, इस अभिप्रायसे कश्यपने उनसे कहा—'अब यह पृथ्वी हमारी हो चुकी, अब तुम दक्षिण समुद्रकी ओर चले जाओ।' परशुरामने ऐसा ही किया। वाल्मीकीयमें इसका प्रमाण है। जब रामचन्द्रजी वैष्णव धनुषपर बाण चढ़ाकर बोले कि 'बोलो अब इस बाणसे मैं तुम्हारी गतिका अवरोध करूँ या तपसे अर्जित तुम्हारे लोकोंका हरण करूँ।' तब परशुरामने हततेज और चकित होकर कहा—'मैंने सारी पृथ्वी कश्यपको दानमें दे दी है इससे मैं रातको पृथ्वीपर नहीं सोता। मेरी गतिका अवरोध न करो, लोकोंका हरण कर लो'।—(शब्दसागर)

नोट—२ *'उरिन भये नीकें*......' इति। यहाँ ऋण क्या है? आयुर्बल ही ऋण है। (पं० रामकुमारजी)

माताका आयुर्बलरूप ऋण प्रथम चुकाया अर्थात् माताको प्रथम मारा, इसीसे माताको प्रथम कहा। भाव कि पिताकी आज्ञा पाते ही माताकी आयु समाप्त कर दी, यही उनसे उऋण होना है। पितासे जोर न चला तो सहस्त्रबाहुसे वैर करवाके उन्हें मरवा डाला। इस तरह उनके आयुर्बलरूपी ऋणको चुकाकर उनसे उऋण हुए। अब रहा गुरु-ऋण सो उनके ऋणको चुकानेका सामर्थ्य आपमें नहीं है अर्थात् उनकी आयु समाप्त करने, उनको मार डालनेमें आप असमर्थ हैं, अतः आपको चिन्ता है [प्रायः यही मत पंजाबीजी, पांडेजी, बाबा हरिहरप्रसादजी और पं० रामकुमारजीका है। पंजाबीजी कहते हैं कि तीन ऋण सबोंके सिरपर हैं। तीनोंको उतारनेपर पुत्र सुपुत्र कहलाता है, सो आज आप बड़े सुपुत्र हुए ही हैं कि दोका ऋण तो भलीभाँति उतारा अर्थात् माताको अपने हाथों मारा और क्षत्रियोंसे वैर करके पिताको मरवाया। (पं०) परंतु बैजनाथजीका मत है कि पिताके कहनेसे अपनी माताको मारा, पिताकी आज्ञाका पालन करनेसे वे प्रसन्न हो गये, इस तरह पितासे उऋण हुए। पिताको प्रसन्नकर उनसे माँगा कि माताको जीवित कर दीजिये। इस तरह माताको पुनः जीवित कराके मातासे उऋण हुए। वीरकविजीने बैजनाथजीका ही भाव लिखा है।—परंतु इस भावमें व्यंग्यकी खूबी नहीं रह जाती।]

सो जनु हमरेहि माथें काढ़ा। दिन चलि गये ब्याज बड़ बाढ़ा॥ ३॥
अब आनिअ ब्यवहरिआ बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥ ४॥

शब्दार्थ—'**हमरेहि माथें**'=हमारे ही बलपर, हमारे ही भरोसे वा जिम्मेदारीपर। '**काढ़ा**'=निकाला, उधार लिया, ऋण लिया। '**चलि गये**'=बीत गये। '**ब्याज**'=सूद। '**आनिअ**' (आनिए)=ले आइये। '**बोली**'=बुलाकर। '**थैली**'=रुपया रखनेवाला वस्त्र (दो या तीन ओर सिला हुआ, एक ओर खुला जिसे धागे आदिसे बाँधते हैं), बसनी। '**ब्यवहरिआ**'=साहूकार, कर्जा देनेवाला, महाजन, धनी।

अर्थ—वह (गुरुऋण) मानो हमारे ही मत्थे काढ़ा था। दिन बहुत बीत गये, इससे ब्याज भी बहुत बढ़ गया॥ ३॥ अब आप तुरंत महाजनको बुला लावें, मैं तुरत ही थैली खोलकर दे दूँ (ऋण चुका दूँ)॥ ४॥

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—यहाँ *'हमरे'* बहुवचनका प्रयोग भी सुन्दर भावसे खाली नहीं है। *'मैं कछु कहा'*······*'बार बार मोहि लागि'*······' इन स्थलोंपर श्रीलक्ष्मणजीने अपने लिये एकवचनका प्रयोग किया है। *'हमरे कुल इन्ह पर न सुराई'* में बहुवचन रघुकुलके सभी पुरुषोंके लिये है। तस्मात् लक्ष्मणजी जान गये कि परशुरामजीने जो *'आगे अपराधी गुरुद्रोही'* कहा है उसके *'गुरुद्रोही'* शब्दमें श्रीरामजीका भी अन्तर्भाव हो गया है इसीसे वे क्रोधाविष्ट हो गये। भला श्रीरामजीका अपमान, किसीके भी द्वारा क्यों न हो, वे कब कह सकते हैं। यह तो इनका स्वभाव ही है। उपास्यका अपमान कौन वीर सहन करेगा? अतः वे (सेवकाभिमानपूर्वक) कहते हैं—*'सो जनु हमरेहि माथें काढ़ा।'*

नोट—१ *'सो जनु हमरेहि माथें काढ़ा*······' इति। *'हमरेहि माथें काढ़ा'* का भाव यह है कि जैसे किसी गरीबको कोई ब्यवहरिआ रुपया उधार नहीं देता, हाँ, जब कोई बड़ा आदमी उसका जामिन होता है तभी वह उस गरीबको उससे चुका लेनेके बलपर देता है। सो गुरुका ऋण तुमने अपने मत्थे नहीं काढ़ा, तुम गरीब कङ्गाल ठहरे, हमारे जामिन होनेपर ऋण मिला है। परशुराम तो एक ही ऋणके लिये बड़ा शोच दिखा रहे हैं; क्योंकि शिवजी तो अविनाशी हैं वे तो मर नहीं सकते तो यह ऋण कैसे चुके? लक्ष्मणजी कहते हैं कि *'दिन चलि गये ब्याज बड़ बाढ़ा।'* अर्थात् शिवजीको जोते हुए बहुत दिन हो गये। धनीको बुला लाइये क्योंकि हम जामिन हैं, तुम्हें हम कैसे दें? हम तो धनीहीको देंगे।

नोट—२ (क) *'अब आनिअ'* का भाव यह है कि जबतक कोई देनेवाला न था तबतक देनेका योग नहीं पड़ा, पर अब मैं देनेको प्रस्तुत हूँ। बुलानेको कहते हैं, क्योंकि ब्याज आदि जोड़नेका झंझट है, ब्यवहरियाके आ जानेसे हिसाबमें देर न लगेगी और न मुझे चुकानेमें देर लगेगी। (किसी-किसीने सर्राफ या हिसाब करनेवाला अर्थ *'ब्यवहरिआ'* का किया है।)

(ख) श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—भाव कि आपके गुरु शङ्कर हैं। उनका धनुष तोड़नेसे हम दोनों

भाई आपके मतसे शिवद्रोही हो गये। यह हमारे मत्थेपर बड़ा ऋण हो गया। इस ऋणको मैं अकेला ही चुकाये देता हूँ। सारांश यह कि आपके साथ युद्ध करना अधर्म है। आप गुरुजीको ही यहाँ तुरत ले आइये। मैं अकेला ही उनको भी युद्धमें पराजित कर दूँगा। श्रीरामजी आप दोनोंको जीतें इसमें तो आश्चर्य ही क्या? लक्ष्मणजीकी सच्ची आत्मनिष्ठा (आत्मविश्वास) का प्रमाण अयोध्या और लङ्कामें देखनेमें आता है। यथा—*'जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥'* (२। २३०। ८) *'जौं सत संकर करइ सहाई। तदपि हतौं रन राम दुहाई॥'*

नोट—३ *'तुरत देउँ मैं थैली खोली'*— *'तुरत'* देनेका भाव यह है कि एक ऋण माताका चुकानेमें तुम्हारा धन घट गया। पिताका ऋण बाकी था सो उसके चुकानेके लिये तुम्हें सहस्रबाहुके यहाँ जाना पड़ा। वह ऋण उसने चुका देनेको कहा, पर उसने वह ऋण अत्यन्त देरमें चुकाया और मैं जमा चुकाये बैठा हूँ, तुम बुलाकर लाओ, तुम्हारे बुलानेहीकी देर है, वह आकर तुरत गिना ले अर्थात् गुरुको मारकर मूल चुका दूँ; और तुमको मारकर ब्याज चुका दूँगा। [बैजनाथजी तथा पाँडेजी लिखते हैं कि आशय यह है कि तुम तो हमसे लड़नेको समर्थ हो नहीं, तुम क्या लड़ोगे? हाँ, अपने गुरु श्रीशिवजीको बुला लाइये। वे धनुष तोड़नेका दाँव आकर लें। (पां०, वै०) ऋण लोग अपने मत्थे काढ़ते हैं, दूसरेके नहीं, यह 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। *'अब आनिअ·····खोली'* में गूढ़ व्यंग है कि जब वे पाँच मुखसे लेना चाहेंगे तो मैं हजार मुख प्रकट कर लेवा-देई करूँगा। (वीरकवि) यहाँ थैली और द्रव्य क्या हैं? तरकश थैली है, दोनों एक ही ओर खुलते हैं। थैली द्रव्यसे भरी रहती है, तरकश बाणसे भरे रहते हैं। तरकशसे बाण निकाल-निकालकर मारना द्रव्यका गिन देना है। मार डालना ऋणका चुका देना है।]

नोट—४ परशुरामजीके *'न त येहि काटि कुठार कठोरे। गुरहि उरिन होतेउँ श्रम थोरे॥'* का उत्तर यह सब है—*'माता पितहि उरिन'* से *'थैली खोली'* तक।

नोट—५ ☞परशुरामजीने पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर देनेकी प्रतिज्ञा करके पहले सहस्रबाहु और उस (हैहय) वंशका सफाया किया, फिर पृथ्वीको क्षत्रियोंसे सूनी कर दी। यह पूर्व लिखा गया। उनका ही वाक्य है कि *'भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही॥'* शङ्का होती है कि तब क्षत्रियसमाज कहाँसे आ गया जो जनकपुरमें इस समय उपस्थित था?

महाभारत आश्वमेधिकपर्वमें लिखा है कि परशुरामजीने सहस्रार्जुनको बन्धु-बान्धवोंसहित मार डाला, तब ब्राह्मणोंने उनकी स्त्रियोंसे नियोगकी विधिके अनुसार पुत्र उत्पन्न किये, किंतु उन्हें भी परशुरामने मार डाला। इस प्रकार एक-एक करके जब इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार हो गया तब परशुरामजीको आकाशवाणी हुई कि 'बेटा परशुराम! इस हत्याके कामसे निवृत्त हो जाओ। भला बारम्बार इन बेचारे क्षत्रियोंकी जान लेनेसे तुम्हें कौन-सा लाभ दिखायी देता है?' इसी प्रकार उनके पितामह ऋचीक आदिने भी कहा कि 'यह काम छोड़ दो। तुम ब्राह्मण हो, तुम्हारे हाथसे राजाओंका वध होना उचित नहीं है' और इस विषयमें राजर्षि अलर्कका इतिहास सुनाकर उसके अनुकूल बरतनेको कहा। अलर्कको अन्तमें जो अनुभव हुआ वह उन्होंने इस प्रकार कहा—''अहो, बड़े कष्टकी बात है कि अबतक मैं बाहरी कामोंमें ही लगा रहा और भोगोंकी तृष्णासे आबद्ध होकर राज्यकी उपासना करता रहा। ध्यानयोगसे बढ़कर कोई उत्तम सुखका साधन नहीं है, यह बात मुझे बहुत पीछे मालूम हुई है।''—तुम भी घोर तपस्यामें लग जाओ, इसीसे कल्याण होगा। (तब उन्होंने क्षत्रिय-संहार बंद किया और पृथ्वी कश्यपजीको दे दी।)

शान्तिपर्वमें लिखा है कि उस समय सैकड़ों क्षत्रिय मरनेसे बच गये थे। वे ही धीरे-धीरे बढ़कर महापराक्रमी भूपाल हुए। तब परशुरामजीने फिर अस्त्र उठाया और क्षत्रियोंके बालकोंको भी मार डाला। अब गर्भके बालक रह गये थे। इनमेंसे जो जन्म लेता उसका पता लगाकर वे उसका वध कर डालते थे। उस समय कुछ ही क्षत्राणियाँ गर्भको बचा सकी थीं। इस प्रकार इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार करके उन्होंने अश्वमेध-यज्ञ किया और यह पृथ्वी कश्यपजीको दानमें दे दी। तब शेष क्षत्रियोंकी जीवन-रक्षाके लिये कश्यपजीने

उनसे कहा कि मेरे राज्यमें निवास न करना, तुम दक्षिण समुद्रके किनारे चले जाओ। समुद्रने उनके लिये जगह खाली कर दी जो 'शूर्पारिक' देशके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसे 'अपरान्त भूमि' भी कहते हैं।

क्षत्रिय कैसे बच गये? बहुत-से हैहयवंशी क्षत्रियोंको स्त्रियोंमें छिपा रखा गया था। पुरुवंशी विदूरथका एक पुत्र ऋक्षवान् पर्वतपर रीछोंद्वारा पला। महर्षि पराशरने सौदासके पुत्रोंकी जान बचा ली। शिबिके एक पुत्र गोपतिको गौओंने पाल-पोसकर बड़ा किया। प्रतमर्दनके पुत्रको गोशालामें बछड़ोंने पाला। दिविरथके पुत्रको गौतमने गङ्गातटपर छिपा दिया। बृहद्रथकी रक्षा गृध्रकूटपर लंगूरोंने की और मरुत-वंशके बालकोंकी रक्षा समुद्रने की।

ब्राह्मण पृथ्वीका राज्य सँभाल न सके। अतएव कश्यपजीने इन राजकुमारोंको एकत्र कर इनको विभिन्न देशोंके राज्यपर अभिषिक्त किया। जिनके वंश कायम थे, वे इन्हींके पुत्र-पौत्रोंमेंसे थे।

कुशिकवंशके लिये तो परशुरामजीकी माताने इनसे प्रथम ही अभय-दान माँग लिया था।

सुनि कटु बचन कुठार सुधारा। हाय हाय सब सभा पुकारा॥५॥
भृगुबर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचौं नृपद्रोही॥६॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े॥७॥
अनुचित कहि सबु लोगु पुकारे। रघुपति सयनहि लषनु नेवारे॥८॥

दोहा—लषन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोपु कृशानु।
बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु॥२७६॥

शब्दार्थ—**बचौं**=बचाता हूँ, छोड़ देता हूँ, तरह दे जाता हूँ। **गाढ़े**=कठिन, दृढ़, धीर। **सयन**=सैन, इशारा। **भृगुबर**=भृगुकुलमें श्रेष्ठ, भृगुश्रेष्ठ। 'भृगु' परशुरामजीका भी नाम है।=विप्रश्रेष्ठ। नेवारना=रोकना। मना करना। **आहुति**=हवनमें डालनेकी सामग्रीकी वह मात्रा जो एक बार यज्ञकुण्डमें डाली जाय।

अर्थ—(लक्ष्मणजीके) कड़ुवे वचन सुनकर (परशुरामजीने) फरसा सँभाला। सब सभा हाय! हाय! करके पुकार उठी (अर्थात् सभामें हाहाकार मच गया)॥५॥ (लक्ष्मणजी बोले—) हे भृगुश्रेष्ठ! तुम मुझे फरसा दिखा रहे हो? (पर) हे नृपद्रोही! मैं ब्राह्मण समझकर तरह दे जाता हूँ, छोड़ देता हूँ॥६॥ तुम्हें कभी रणमें कठिन सुभटसे भेंट नहीं हुई (पाला नहीं पड़ा)। हे ब्राह्मणदेवता! (आप अभीतक) घरहीके बढ़े हैं॥७॥ 'अनुचित है, अनुचित है' (ऐसा) कहकर सब लोग पुकार उठे। (तब) श्रीरघुनाथजीने इशारेसे लक्ष्मणजीको रोका॥८॥ लक्ष्मणजीका उत्तर आहुतिके समान है। उससे भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीके कोपरूपी अग्निको बढ़ते हुए देखकर रघुकुलके सूर्य श्रीरामजी जलके समान (शान्त करनेवाले) वचन बोले॥२७६॥

नोट—१ *'सुनि कटु बचन'*—*'माता पितहि'* से *'थैली खोली'* तक सभी कटु हैं और *'अब आनिअ ब्यवहरिआ बोली।'''''''* ये तो विशेषकर कटु हैं। *'सुधारा'* अर्थात् फरसेकी धार उनकी ओर करके हाथमें लिया। *'हाय हाय सब सभा पुकारा'*— फरसेको सँभाले देख सब सभा भयभीत हो गयी कि अब अवश्य मारेंगे। *'सब सभा'* अर्थात कुटिल राजाओंको छोड़कर और सब।

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी—*'छमहु महामुनि धीर'*, *'मारतहू पा परिअ तुम्हारे'* ऐसी क्षमा-याचना लक्ष्मणजी स्वमुखसे कर गये। कौशिक महामुनि भी प्रार्थना कर चुके कि *'छमिअ अपराधू'*। श्रीरघुनाथजीने भी प्रार्थना की। तथापि *'छोड़ौं बिनु मारे'* कहते हुए भी परशुरामजी गुरुद्रोहका मिथ्यारोप करते ही गये। इससे स्पष्ट हो गया कि उनमें न क्षमा करनेकी शक्ति ही रह गयी और न इच्छा ही। इससे 'क्षमा' का नाश बताया।

नोट—२ (क) *'भृगुबर परसु देखावहु मोही'* इति।—भृगुने भगवान्‌को लात मारी थी, इन्होंने फरसा दिखाया, यह उनके योग्य ही है, यह सूचित करनेके लिये *'भृगुबर'* सम्बोधन दिया। *'परसु देखावहु'*— यह *'कुठार सुधारा'* का अर्थ स्पष्ट किया। अर्थात् धार सीधी लक्ष्मणजीकी ओर करके हाथमें उठाया

जैसे कि डरवानेके लिये दिखाते हों, इसीसे *'परसु देखावहु'* कहा। (ख) *'बिप्र बिचारि बचौं नृपद्रोही'* इति। परशुरामजीने स्वयं अपनेको *'छत्रियकुल द्रोही'* कहा है, यथा—*'विश्वविदित छत्रियकुल द्रोही', 'भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही।'* (१। २७२) अतः नृपद्रोही कहा। 'ब्राह्मण हो, इससे तरह दे जाता हूँ', अर्थात् नहीं तो अबतक मार डाला होता, क्योंकि नृपद्रोही हो और मैं राजकुमार हूँ तब अपने वैरीको कब जीता छोड़ सकता था। पं० रामकुमारजीके मतानुसार भाव यह है कि नृपद्रोही हो, इससे कटुवचन कहता हूँ, ब्राह्मण हो इसलिये छोड़ देता हूँ।

नोट—३ *'मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े'* इति। भाव कि जिनको तुमने मारा वे रणधीर सुभट न थे। तुम उनके ही धोखेमें मुझे फरसा दिखा रहे हो, सो मैं वैसा नहीं हूँ। मैं महारणधीर सुभट हूँ। *'सुभट रन गाढ़े'* कहकर योधा तीन प्रकारके जनाये—भट, सुभट और गाढ़े सुभट। अन्य सब राजा भट थे, सहस्रार्जुन सुभट था। इन्हीं दोसे तुमसे भेंट हुई। गाढ़े सुभटसे पाला नहीं पड़ा था, आज पड़ा है।

नोट—४ *'द्विज देवता घरहि के बाढ़े'* इति। इसके भाव यह कहे जाते हैं—(क) आप घरहीके बढ़े हैं, अर्थात् माता और भाइयोंके सिर काटकर ही शूरवीर बन बैठे हैं। (पं०) (ख) हे द्विजदेवता! अभीतक घरहीके बढ़े थे, सो आपने उन्हींको मारा। यहाँ द्विजके साथ *'देवता'* शब्द भी देनेका भाव यह है कि देवता तो पुजानेके लिये हैं, कुछ संग्राम करनेके लिये नहीं बनाये गये। वैसे ही तुम अभीतक घर-घर पुजाते ही रहे, संग्रामका काम अभी तुम्हें नहीं पड़ा। (प्र० सं०) पुनः (ग) *'द्विज देवता'* का भाव कि द्विज होनेसे ही आप देवताके समान पूज्य हैं, आप सुभट नहीं हैं। इससे आपके साथ युद्ध करके विजयसम्पादनमें मेरी कुछ शूरता न सिद्ध होगी। आपके गुरुको ही परास्त कर मार डालूँ, तब तो आपका समाधान हो जायगा न? *'घरहि के बाढ़े'* का भाव कि आप तो घरमें ही बड़े हो गये हैं, रणाङ्गण तो आपने देखा भी नहीं। साधारण राजाओंको मारकर अपनेको दुर्जय महावीर समझने लगे हैं। वास्तवमें भट न होते हुए भी आप मिथ्या अभिमान धारण कर रहे हैं—यही भाव *'महाभट मानी' 'कायर कथहिं प्रताप'* इत्यादि शब्दोंसे सिद्ध होता है। (प० प० प्र०) (घ) आपके हृदयमें सच्ची वीरता तो है नहीं, यह जो वीरता है वह तो बनायी हुई है। ब्राह्मणदेव तप-बलसमर्थ तो होते ही हैं, उसी शक्तिसे अस्त्र धारण कर वीर बन गये। घरहीकी शक्तिसे वीरतामें बढ़ गये। अबतक वह वीरता बनी रह गयी; क्योंकि अभीतक तुमको कोई बराबरका भी सुभट न मिला, नहीं तो तुम्हारी वीरता उतर जाती। जो कहो कि सहस्रबाहु क्या भारी सुभट न था, तो सुनिये। सहस्रबाहु सुभट था, पर वह ब्राह्मणद्वेषी होनेसे अपने ही पापसे नष्ट हो गया। अब तुम्हारी वीरता रह जाय तो जानूँ कि वीर हो (वै०)। अथवा, (ङ) द्विजदेवता! तुम हमारे ही घरके बढ़े हो। यह शक्ति श्रीरघुनाथजीहीकी दी हुई है, इसीसे अबतक क्षत्रियोंको मारते रहे। अब वह वीरता न रहेगी (वै०)। (च) यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग्य' है। भाव यह कि घरके सिवा बाहर किस योद्धासे गहरा युद्ध किया है? (वीर)

नोट—५ *'अनुचित कहि……'* इति। (क) आप घरहीके बढ़े हैं, मैं विप्र जानकर तरह दे रहा हूँ, इत्यादि वचन अनुचित हैं; क्योंकि बड़े ही कटु हैं। जब सब लोगोंने 'अनुचित है, अनुचित है' कहा तब रघुनाथजीने रोका। (ख) *'रघुपति सयनहि लखनु नेवारे'* इति। आगे दोहेमें श्रीपरशुरामजीके कोपको 'अग्नि', श्रीलक्ष्मणजीके वचनोंको 'आहुति' और श्रीरामजीके वचनोंको 'जल' समान कहेंगे। अग्निपर जल पड़नेसे वह शीतल हो जाता है पर वही मन्द अग्नि आहुतियोंके पड़नेसे और दहक उठता है। इसलिये प्रज्वलित अग्निको शान्त करनेके लिये प्रथम आहुतिको रोककर तब जल डालना चाहिये। यहाँ इशारेसे लक्ष्मणजीको मना करना आहुतिका रोकना है। इनको रोककर तब परशुरामजीके कोपाग्निको शान्त करनेको शीतल वचन कहेंगे। इशारेसे रोकनेमें लक्ष्मणजीका आदर भी सूचित होता है कि खूब सेवा की। और उधर सब लोगोंका भी मान रखा कि अनुचितको रोक दिया।

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामी—*'रघुपति सयनहि लखनु नेवारे'* इति। इससे दिखाया कि *'निपट निरंकुश'* (२७४। २)

जो परशुरामजीने कहा था वह भृगुपतिका मिथ्या प्रलाप था। इसीसे तो आगे कविने कहा है *'भृगुपति बकहिं।'* असत्य-समान पाप नहीं। अतः असत्य प्रलापसे भी शौचका पूर्ण अभाव दिखाया।

नोट—६ *'लषन उतर……'* इति। *'लषन उतर आहुति सरिस', 'भृगुबर कोप कृसानु सरिस'* और *'जल सम बचन'* तीनों उपमेय-उपमानोंमें 'धर्मलुप्तोपमा अलंकार' है। *'रघुकुल भानु'* में रूपक अलंकार है। (वीर) (ख) *'रघुकुल भानु'* इति। विप्रद्रोहसे कुलका नाश होता है, यथा—*'दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।'* (२। १२६। ४) *'जिमि द्विज द्रोह कियें कुल नासा।'* (४। १७। ८) *'बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें।'* (७। ११२। ३) लक्ष्मणजीके वचनोंसे विप्रद्रोह सूचित हो रहा है, इसीसे रघुनाथजी रघुकुलकी रक्षाके लिये बोले, अतः *'रघुकुल भानु'* विशेषण दिया। (पं० रामकुमारजी) अथवा ताप और वर्षा दोनोंका अधिष्ठान भी भानु है। (पं०) जलके बरसानेमें भी सूर्य ही कारण है। सूर्य अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जल खींचकर बादल बनाकर जल बरसाता है। अतः *'जल सम बचन'* बोलनेके सम्बन्धसे *'रघुकुल भानु'* कहा।

नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूध मुख करिअ न कोहू॥ १॥
जौं पै प्रभु प्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना॥ २॥
जौं लरिका कछु अचगरि करहीं। गुर पितु मातु मोद मन भरहीं॥ ३॥
करिअ कृपा सिसु सेवक जानी। तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी॥ ४॥

शब्दार्थ—**सूध**=सीधा। **दूध मुख**=दुधमुँहा=दूध पीनेवाला बच्चा, जिसका माँका दूध पीना अभी न छूटा हो। **अयान**=अज्ञान, बेसमझ, अबोध। **अचगरि**=अयोग्य कार्य, नटखटी, अटपट काम। मंगलकोशमें इसका अर्थ 'अनुचित अकर कर्म' है। यथा—*'सुनो महरि निज सुत की करनी। करत अजगरी जात न बरनी॥'* (व्रजविलास) (मा० त० वि०)=चपलता, चञ्चलता।

अर्थ—हे नाथ! बालकपर कृपा कीजिये। यह सीधा है, दुधमुँहा है। इसपर क्रोध न कीजिये॥ १॥ यदि यह आपका कुछ भी प्रभाव जानता होता तो भला यह अज्ञान आपकी बराबरी करता?॥ २॥ यदि बालक कुछ अयोग्य कार्य कर बैठते हैं तो गुरु, पिता और माता मनमें आनन्दसे भर जाते हैं॥ ३॥ इसे शिशु और सेवक जानकर कृपा कीजिये। आप तो समदर्शी, सुशील, धीर, मुनि और ज्ञानी हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) *'नाथ'* सम्बोधनसे जनाया कि आप स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ। *'बालक पर छोहू'* का भाव कि आप माता-पिताके तुल्य हैं। माता-पिता बालकपर कृपा करते ही हैं, अतः आप भी कृपा करें। लड़कोंपर छोह किया जाता है, यथा—*'सदा करब लरिकन पर छोहू।'* (३६०। ७) (ख) *'सूध दूध मुख……'* इति। परशुरामजीने लक्ष्मणजीको 'कुटिल' और 'कटुवादी' कहा था, यथा—*'कौशिक सुनहु मंद येहु बालकु। कुटिल कालबस……॥'* (२७४। १) *'कटुबादी बालक बध जोगू॥'* (२७५। ३) उसीपर श्रीरामजी कहते हैं कि यह बात नहीं है। यह तो बड़ा सीधा और मधुरभाषी है। (ग) *'दूध मुख'* कहनेका भाव कि जबतक बालक दूध पीता है तबतक वह अन्तःकरणसे सीधा रहता है, काम-क्रोधादि-विकाररहित होता है। इससे उसमें कुटिलता नहीं होती। वचन कर्ममात्र ऊपरसे ही उसमें चञ्चलता रहती है। ऐसा विचारकर क्रोध न कीजिये। (वै०) विश्वामित्रजीने जो कहा था कि *'बाल दोष गुन गनहिं न साधू॥'* (२७५। ५) उसीका पोषक यह वचन है। बालपना अज्ञानावस्था होनेसे उसमें कुटिलता आदि नहीं होते। इसपर वे कह सकते हैं कि 'तब फिर यह ऐसे वचन कैसे बोला?', उसका उत्तर आगे देते हैं—*'जौं पै……।'* (घ) पंजाबीजी लिखते हैं कि यदि परशुरामजी कहें कि इतने बड़े लड़केको तुम दुधमुँहा कैसे कहते हो तो उसपर कहते हैं—*'जौं पै……।'* (ङ) बालकपर क्रोध न करना चाहिये। यथा—'**देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च। नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च॥**' (हितोपदेश)

नोट—२ *'जौं पै प्रभु प्रभाव……'* इति। (क) *'कछु'* अर्थात् कुछ भी, जैसे पर्वतसे राई-बराबर भी, वा सेरभरमें रत्तीभर भी। भाव यह कि वह आपके किञ्चित् प्रभावको भी तो नहीं जानता, नहीं तो ऐसा न कहता।

उसने तो वेष देखकर ऐसा कह डाला। कुछ भी प्रभाव न जाना, इसीसे *'अयाना'* कहते हैं। (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि भाव यह है कि बहुत अवस्था होनेसे मनुष्य बड़ा नहीं माना जाता; किंतु बुद्धिमें बड़ा होनेसे बड़ा होता है, सो इसमें इतनी बुद्धि भी नहीं कि आपका किञ्चित् भी प्रभाव जानता, अतः ये अयान है, सीधा हैं, दुधमुँहा है। इसीसे बराबरी (उत्तर-प्रत्युत्तर) करने लगा, इसपर यदि वे कहें कि अवस्थाके अनुसार कुछ दण्ड देना ही चाहिये, तो उसपर आगे कहते हैं—*'जौ लरिका.....।'* (पं०) (ग) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि कैसी चतुरताका उत्तर है। परशुरामजी तो प्रसन्न हुए कि इन्होंने तो कुछ हमारी प्रभुताको जाना और जनाया, लक्ष्मणने न जाना तो न सही। श्रीरामजीका संकेत तो उस प्रभुताकी ओर है जो उन्होंने अन्तमें कहा है—*'बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥'* (२८४। ५) और ये महाशयजी समझ रहे हैं अपनी वह प्रभुता जो अपने मुखसे उन्होंने कही है—*'मैं जस बिप्र सुनावौं तोही॥ चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू॥ समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भये पसु आई॥ मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हे। समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे॥ मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरे।'* (२८३। १—५) (घ) बैजनाथजीका मत है कि *'जौ पै.....अयाना'* में भाव यह है कि अपना प्रभाव प्रकट करके दिखाइये, क्रोधमें क्या रखा है?

टिप्पणी—१ *'जौ लरिका कछु अचगरि करहीं'* इति। *'जौ'* से जनाया कि लक्ष्मणजीका कोई कसूर नहीं। पूर्व जो *'नाथ'* और *'बालक'* शब्द कहे उनका अभिप्राय यहाँ खोला है। पुनः, पहले नाथ कहा इससे पहले गुरु कहा तब पिता-माता और अगली चौपाईमें कहते हैं कि *'करिय कृपा सिसु सेवकु जानी'* अर्थात् पहले शिशु तब सेवक। इस क्रमभङ्गका कारण यह है कि यहाँ श्रीलक्ष्मणजीमें प्रीति कराना है सो गुरुके शिष्य तो हैं ही, पर यदि गुरु शिष्यको लड़का मान ले तो उसे शिष्यमें और भी अधिक प्रेम हो जाता है; इसी प्रकार माता-पिताका पुत्र तो है ही पर यदि लड़केमें सेवाके कारण सेवक-भाव भी आ जाय तो माता-पिताका पुत्रपर अधिक प्रेम हो जाता है, यह समझकर कि पुत्र मेरी आज्ञामें है। अतएव पूर्व *'नाथ'*, *'बालक'*, *'लरिका'* कहकर गुरु-पितु-मातु कहा और शिशु प्रथम कहकर सेवक कहा।

नोट—३ श्रीहनुमन्नाटकमें श्रीरामजीने अपने सम्बन्धमें इसी आशयके वचन कहे हैं, यथा—'**बाहोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य त्रैयम्बकस्य महिमा न तवापि सैषः। तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम्॥**'(१। ३८) अर्थात् मैंने आपकी भुजाओंके बलको नहीं जाना और न शिवजीके धनुषकी महिमा जानी। हे परशुरामजी! आप मेरी इस चपलताको क्षमा करें; क्योंकि बालकोंके दुष्कर्म गुरुजनोंके आनन्दके लिये होते हैं।

नोट—४ बैजनाथजीका मत है कि इन वचनोंमें आशय यह है कि हम तुम्हारे कुवचन इसीसे विनोद मानकर सुनते और सहते हैं।

नोट—५ *'तुम्ह सम सील.....'* इति। भाव कि 'सम' हैं, अतः कोप न होना चाहिये। सुशील हैं, अतः गाली न देनी चाहिये। धीर हैं, अतः मनमें बच्चोंके वचनसे उद्वेग न होना चाहिये। मुनि हैं, अतः सब विकारोंसे रहित होना चाहिये तथा विचार करना चाहिये। ज्ञानी हैं, अतः सबमें ब्रह्मको देखते हुए बैर-विरोधकी बुद्धि न आने देना चाहिये, यथा—*'देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* (३। १५) *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* (७। ११२)

राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लषनु बहुरि मुसुकाने॥ ५॥
हँसत देखि नखसिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी॥ ६॥
गौर सरीर स्यामु मन माहीं। कालकूट-मुख पयमुख नाहीं॥ ७॥
सहज टेढ़ अनुहरै न तोही। नीचु मीचु सम देख न मोही॥ ८॥

शब्दार्थ—**जुड़ाना**=ठंढा होना, शान्त होना। **पयमुख**=दुधमुँहा। **अनुहरै न**=अनुकरण वा अनुसरण नहीं करता।=समान वा अनुकूल आचरण नहीं करता।

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सुनकर (वे) कुछ ही ठंढे हुए थे (कि) लक्ष्मणजी कुछ कहकर फिर मुस्कुराये॥ ५॥ हँसते देखकर नखसे शिखतक (अर्थात् सारे शरीरमें) क्रोध व्याप्त हो गया। (वे बोले—)'राम! तेरा भाई बड़ा पापी है॥ ६॥ (यह) शरीरसे तो गोरा है पर मनका काला है। यह विषमुँहा है, दुधमुँहा नहीं॥ ७॥ (यह) स्वाभाविक ही टेढ़ा है, तेरे समान आचरणवाला नहीं है। यह नीच मुझे मृत्युके समान नहीं देखता॥ ८॥

पंजाबीजी—**'कछुक'** इति। 'पृथ्वी बहुत तपी हुई होती है तो प्रथम वर्षासे ही पूरी तरह शीतल नहीं होती, वैसे ही इनका क्रोध अत्यन्त बढ़ा हुआ था, अतः **'कछुक जुड़ाने।'** वा, श्रीरामचन्द्रजीने शान्तिके निमित्त सम्मानके वाक्य तो बहुत कहे, परंतु **'मुनि'** आदि भी कहा है, उनके कारण पूर्ण प्रसन्नता नहीं हुई। वा, राम शब्द रमानेका बोधक है जो इनके नाममें है, इससे परम प्रसन्नता चाहिये थी, पर उस शब्दके पहले जो **'परसु'** तमोगुणबोधक शब्द लगा है उससे वे क्रोधी बने हैं, रामचन्द्रजीके वचन सुनकर भी अल्प ही प्रसन्नता हुई।

नोट—१ **'कहि कछु'** इति। क्या कहा? यह ग्रन्थकारने नहीं खोला। ऐसा जान पड़ता है कि जब रामचन्द्रजीने कहा कि **'तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी',** तब लक्ष्मणजीने ताना मारा कि क्या खूब अच्छे शीलवान्, धीर, मुनि और ज्ञानी हैं। **'सम सील'** का अर्थ 'समता-परिपूर्ण' 'समता-स्वभाववाले' भी हो सकता है। लक्ष्मणजीने कहा कि 'रामजी तो इन्हें हमारे गुरु-पितु-माता बताते हैं, यथा—**'नाथ करिय बालक पर छोहू।'** [इसमें नाथसे गुरु, बालकसे पिता-माता। आगे कहा है **'सिसु सेवक जानी', गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं'**] सो हमें अच्छे गुरु-पितु-माता मिले कि जिनके कुलकी रीति है कि गुरु-माता-पिताको मारकर उऋण होते हैं। सो इनको तो तीनको मारना था, हमको एक ही मारे छुट्टी मिल जायगी, तीनोंके ऋणसे उद्धार हो जायगा। इनको मार डालें तो सबसे उऋण हो जायँ। पुनः भाव यह कि 'वाह भाई साहब! आप अच्छा कहते हैं। ये तो रूपहीके देखनेसे (सूरतसे ही), समशील, धीर, मुनि और ज्ञानी जान पड़ते हैं।

नोट—२ **'राम तोर भ्राता बड़ पापी'** इति। (क) यहाँ **'तोर' 'तोही'** इत्यादि वचन क्रोधकी अधिकतासे रूक्षता निर्देश कर रहे हैं। (ख) **'बड़ पापी'** कहनेका भाव कि जो ब्राह्मणको हँसे वह पापी है, यथा—**'होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ। हँसेहु हमहिं सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥'** (१३५) तात्पर्य कि तुम धर्मात्मा हो यह पापी है। पुनः **'बड़ पापी'** का भाव कि यह अपने वचनोंसे तो कूट करता ही है, पर तुम्हारे वचनोंको भी लेकर कूटमें डाल देता है, उन्हें लेकर भी कूट करता है। (पं० रा० च० मिश्र)

नोट—३ **'गौर सरीर स्याम'**......' इति। भाव यह कि ऊपरसे देखनेमें गोरा है पर भीतरका काला है। तुम कहते हो कि यह दुधमुँहा है, पर ऐसी बात है नहीं, यह तो **'कालकूट-मुख'** है, इसके मुखमें हालाहल भरा हुआ है, यह हालाहल पान करनेवाला है, इसीसे इसके सब करतब (हँसी, वचन आदि) विषैले हैं। परशुरामजीको लक्ष्मणजीके वचन प्राणघातक, विषैले बाणके सदृश लगते हैं। इसीसे वे इनको कालकूटमुख कहते हैं। और, एक प्रकार ये कालकूटमुख हैं भी, यदि इनको शेषावतार मानें। लक्ष्मणको **'कालकूट-मुख'** कहकर जनाया कि तुम 'सुधामुख' हो, तुम्हारे वचन अमृतसमान हैं। [यहाँ सत्य 'दूधमुख' को असत्य ठहराकर असत्य विषमुखको सत्य ठहराना 'शुद्धापह्नुति अलंकार' है। (वीर)]

नोट—४ **'सहज टेढ़ अनुहरै न तोही'**......' इति। यह सहज ही टेढ़ा है, यह जन्मका ही उसका स्वभाव है, कुछ किसीके संग-दोषसे नहीं, संगदोषसे होता तो तुम्हारे संगसे सुधर जाता। अतः कहते हैं कि **'अनुहरै न तोही।'** अर्थात् तुम्हारे सदृश इसमें एक भी बात नहीं है। तुम नम्रतासे हाथ जोड़ते हो, यह मुझे कादर बनाता है। तुम मनके उज्ज्वल हो, स्वच्छ हो और तनके श्याम, यह तनसे उजला है और मनका काला। तुम सीधे हो, यह टेढ़ा। तुम ऊँच, यह नीच। तुम हमसे डरते हो, यह नहीं डरता इत्यादि। विजयदोहावलीमें इस चौपाईपर यह दोहा है—**'यह कुजाति है जन्म को डसत प्रान हर**

लेत। ऐसे पापी अधम को राम संग तुस्ह लेत॥' वस्तुतः क्रोधाग्निसे प्रज्वलित होनेके कारण यह सब प्रलाप हो रहा है। अनमेल वर्णनसे यहाँ 'प्रथम विषम अलंकार' है। *'नीचु मीचु सम देख……'* में 'धर्मलुप्तोपमा' है। प्राणनाशक धर्म नहीं कहा गया है (वीर)। श्रीनंगे परमहंसजी *'अनुहरै न तोही'* का अर्थ करते हैं—'तेरा अदब नहीं करता'।]

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—(क) *'अनुहरै न तोही'* इस वाक्यसे यह पाया गया कि अभीतक वे श्रीरामजीको सरल समझते थे, पर आगे यह भावना भी नष्ट हो जाती है। यथा—*'बंधु कहै कटु संमत तोरे। तू छल बिनय करसि कर जोरे॥'* (ख) यहाँ और अन्य स्थानोंमें श्रीरामजीके लिये 'तोही' 'तोरा' आदि एकवचन प्रयोग करनेमें केवल विज्ञानका सम्पूर्ण अभाव ही नहीं किंतु 'विपरीत ज्ञान' की भूरिता भी सूचित हो रही है। कारण कि वे अब भी श्रीरघुनाथजीको केवल दशरथ-तनय पाञ्चभौतिक, प्राकृत बालक ही समझते हैं—*'जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।'*

दो०—लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोधु पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहि चरहिं* बिश्व प्रतिकूल॥ २७७॥

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। परिहरि कोपु करिअ अब दाया॥ १॥
टूट चाप नहिं जुरिहि रिसानें। बैठिअ होइहिं पाय पिरानें॥ २॥
जौ अति प्रिय तौ करिअ उपाई। जोरिअ कोउ बड़ गुनी बोलाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**चरहिं**=चलते हैं, आचरण करते हैं। **अनुचर**=पीछे चलनेवाला, अनुगामी, सेवक।

अर्थ—लक्ष्मणजीने हँसकर कहा—हे मुनि! सुनिये, क्रोध पापकी जड़ है, जिसके वश होकर लोग अनुचित कर्म कर डालते हैं और संसारभरके विरुद्ध चलते हैं॥ २७७॥ हे मुनिराज! मैं आपका दास हूँ, अब कोपको छोड़कर दया कीजिये॥ १॥ टूटा हुआ धनुष क्रोध करनेसे जुड़ तो जायगा नहीं। पैर पिराने (दुखने) लगे होंगे, बैठ जाइये॥ २॥ (और) यदि (धनुष) अत्यन्त ही प्रिय हो तो उपाय किया जाय, किसी उत्तम गुणी-(कारीगर-) को बुलवाकर जुड़वा दिया जाय॥ ३॥

नोट—१ *'लषन कहेउ हँसि……'* इति। (क) *'हँसि'* से लक्ष्मणपक्षमें शान्तरस व्यङ्गोक्तिद्वारा उत्तर-प्रत्युत्तरकी कहानी सूचित होती है। (रा० च० मिश्र) (ख) *'क्रोधु पाप कर मूल……'*—ये वचन परशुरामजीके *'राम तोर भ्राता बड़ पापी'* के उत्तर हैं। भाव यह कि आप मुझे *'बड़ पापी'* कहते हैं, पर पापका मूल तो क्रोध है, सो वह तो आपके सिरपर सवार है। तब *'बड़ पापी'* कौन हुआ? आप कि मैं? पापी तो आप ही हैं, मुझे व्यर्थ पापी बनाते हैं। (ग) *'जेहि बस जन अनुचित करहि'* अर्थात् क्रोधके वश होनेसे लोग कौन पाप नहीं कर सकते? मनुष्य गुरुका भी वध कर सकता है, कठोर वचनोंसे सज्जनोंका तिरस्कार कर सकता है। क्या कहना चाहिये, क्या न कहना चाहिये यह वह नहीं जानता। उसके लिये न तो कुछ अकर्तव्य है और न कुछ अवक्तव्य। यथा—'**क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि। क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्॥ वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्। नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित्॥** (वाल्मी० ५। ५५। ५-६)—ये जो विचार श्रीहनुमान्‌जीके हैं वे सब *'क्रोध पाप कर मूल……करहिं'* में हैं। इसमें व्यंग्यसे जनाते हैं कि 'क्रोधावेशमें होनेसे ही आपको हमारा स्वरूप नहीं लख पड़ता, क्रोधवश आप अपने गुरुदेवके उपास्यको कठोर वचन कहते हैं और मारनेको उद्यत होते हैं। (घ) *'चरहिं बिश्व प्रतिकूल'* इति। यहाँ लक्ष्मणजीने किसीका नाम न दिया, पर वचनोंसे जनाते हैं कि तुमने क्रोधके वश हो अनुचित कर्म किये कि माता और भाइयोंको मारा, पिताको मरवाकर सब क्षत्रियोंसे विरोध किया। अतः तुम सबसे प्रतिकूल हो। (पं० रा० कु०) बैजनाथजी यह भाव लिखते

* होहिं—१७२१, छ०। परहिं—को० रा०। चरहिं—१६६१, १७६२।

हैं कि लोग क्रोधवश हो लोकमर्यादा त्यागकर अनीतिपर चलते हैं, जैसे तुम ब्राह्मण होकर अस्त्र-शस्त्र धारण करते हो और सिर काटते फिरते हो। *'चरहिं बिस्व प्रतिकूल'* में भाव यह है कि सबसे वैर बिसाहते फिरते हैं, संसारभरके प्रतिकूल ही कर्म करते हैं—*'बैर अकारन सब काहू सों।'* क्रोधमें अपना-पराया, हित-अहित कुछ भी विचार नहीं रह जाता। दुष्टता तो की एक सहस्रार्जुनने और आप क्रोधावेशमें वैरी बन गये सारे क्षत्रियसमाजके, इत्यादि। विश्वद्रोह बड़ा भारी पाप है, यथा—*'चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्ठइ नहिं सोई।'* (५। ३८) *'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा।'* (५। ३९)—इससे जनाया कि आपके बराबर कोई पापी नहीं।

प० प० प्र०—*'बिस्व'* शब्दमें श्लेष है। विश्व=जगत्। विश्व=स्थूल देह। *'रिस तन जरै होइ बल हानी।'* (२७८। ६) से बताते हैं कि जिसके ऊपर क्रोध किया जाता है उसका कुछ अनिष्ट हो अथवा न भी हो, पर जिसे क्रोध आता है उसकी स्थूल देह तो अवश्य क्रोधसे क्षीण होती है, उसके बलका ह्रास होता है।

नोट—२ *'मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया।'''''* इति। (क) अनुचरका भाव कि क्षत्रिय होनेसे हम तुम्हारे सेवक हुए और फिर रघुकुल तो सदासे ब्राह्मणोंको पूजता आया है। व्यंग्य यह है कि वीरता त्यागकर ब्राह्मण बनिये तब हम आपको डरें, मुनिरूपसे रहिये तो हम वैसा मान करें, वीरता दिखानेसे नहीं डरनेके। (वै०) पुनः भाव कि आपकी कटु वाणी सुनकर मैंने कटु वचन कहे, आप क्रोधका त्यागकर करुणा करें तो आपकी करुणा देखकर मैं भी करुणा करूँ। (मा० म०) (ख) *'मुनिराया'*—भाव कि आप मुनिराज हैं, मुनियोंको क्रोध न करके दया करनी चाहिये। यथा—*'चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी।'* (२८२। ४) अतः आप *'परिहरि कोप करिअ अब दाया।'* (ग) *'परिहरि कोप'''''* इति। भाव कि कोप करना खलका लक्षण है और दया संतका। यथा—*'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी॥'* (७। ३९। ३) *'कोमल चित दीनन्ह पर दाया।'* (७। ३८। ३) आप मुनिराज हैं अतः खलोंका स्वभाव छोड़ दीजिये, मुनिका स्वभाव ग्रहण कीजिये।

नोट—३ *'टूट चाप नहिं जुरिहि रिसानें'''''* इति। (क) *'नहिं जुरिहि रिसानें'* का भाव कि कभी-कभी रिसानेसे भी काम चलता है, यथा—*'भय देखाय लै आवहु तात सखा सुग्रीव।'* (४। १८); पर यह काम ऐसा नहीं है कि रिस करनेसे बन सके। क्रोध करनेसे वह जुड़ नहीं सकता, जुड़नेका उपाय तो कारीगर है सो आगे कहते हैं—*'जौं अति प्रिय।'* (ख) *'बैठिअ होइहिं पाय पिरानें'*— भाव यह कि जबसे आप आये हैं तबसे बराबर खड़े ही हैं, बहुत देर बकबक करते हो गयी, खड़े-खड़े पैर पिराने लगे होंगे।

नोट—४ *'जौं अति प्रिय'''''* इति। (क) आशय यह कि यह तो पुराना सड़ा हुआ धनुष था, यथा—*'का छति लाभ जून धनु तोरे। देखा राम नयन के भोरे॥ छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू।'* (२७२। २-३) अतएव इसपर ममत्व तो होना न चाहिये था, यथा—*'येहि धनु पर ममता केहि हेतू।'* (२७१। ८) फिर भी यदि आपको यही *'अति प्रिय'* है, तो गुणीको बुलाया जावे। *'अति प्रिय'* से जनाया कि साधारण प्रिय हो तब तो जुड़वानेका परिश्रम करना व्यर्थ है। *'अति प्रिय'* हो तो जुड़वाया जाय। (ख) *'बड़ गुनी बोलाई'* का भाव कि यहाँ तो कोई ऐसा गुणी है नहीं जो जोड़ सके, हाँ, देवलोकमें कोई होगा, उसे वहाँसे बुलाना होगा। *'बड़ गुनी'* का भाव कि यह पिनाक विश्वकर्माका बनाया हुआ था। पर अब तो यह सड़कर टूट गया, अतः इसको वह भी संभवतः न जोड़ सकें, उनसे भी कोई बढ़कर गुणी हो वही बना सकेगा। (ग) *'जोरिअ'* का अर्थ यह भी किया जाता है कि जुड़वा लीजिये। व्यंग्य यह कि जुड़वायी हम दे देंगे। (पं०)

बोलत लषनहि जनकु डेराहीं। मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं॥ ४॥
थर थर काँपहिं पुर नर नारी। छोट कुमार खोट बड़ भारी॥ ५॥
भृगुपति सुनि सुनि निरभय बानी। रिस तन जरै होइ बल हानी॥ ६॥

बोले रामहि देइ निहोरा। बचौं बिचारि बंधु लघु तोरा॥ ७॥
मनु मलीन तन सुंदर कैसे। बिष रस भरा कनक घटु जैसे॥ ८॥
दो०—सुनि लछिमन बिहसे* बहुरि नयन तरेरे राम।
गुर समीप गवने† सकुचि परिहरि बानी बाम॥ २७८॥

शब्दार्थ—'**मष्ट**'=मौन, चुप। 'मष्ट करना'=चुप रहना, मुँह न खोलना, यथा—'*बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥*' (५। ३७) '**खोटा**'=खराब, ऐबी, अवगुणसे भरा। '**निहोरा**'=एहसान, कृतज्ञता, उपकार, अनुग्रह। '**तरेरे**'=घुरेरे, तिरछे किये, दृष्टिसे असंमत और असंतोष प्रकट किया। **बाम**=टेढ़ी।

अर्थ—लक्ष्मणजीके बोलनेसे श्रीजनकजी डर रहे हैं। (कहते हैं—बस) चुप रहो, अनुचित बोलना अच्छा नहीं॥ ४॥ नगरके स्त्री-पुरुष थर-थर काँप रहे हैं (और मन-ही-मन कहते हैं) छोटा कुमार बहुत ही बड़ा खोटा है॥ ५॥ लक्ष्मणजीकी नि:शंक वाणी सुन-सुनकर परशुरामजीका शरीर क्रोधसे जला जा रहा है और बल घटता जाता है॥ ६॥ (वे) श्रीरामजीपर एहसान जनाकर बोले—तेरा छोटा भाई समझकर इसे बचाता हूँ॥ ७॥ यह मनका मैला और तनका कैसा सुन्दर है, जैसा विषसे भरा हुआ सोनेका घड़ा हो॥ ८॥ (यह) सुनकर लक्ष्मणजी फिर हँसे। श्रीरामजीने आँखें तिरछी कीं। (आँखके इशारेसे डाँटा) तब वे सकुचाकर टेढ़े वचन छोड़कर गुरु-(विश्वामित्र-) जीके पास चले गये॥ २७८॥

नोट—१ (क) '*बोलत लषनहिं*······' इति। जनकजी इस माधुर्यमें भूल गये हैं, इसीसे डरे और चुप होनेको कहा। भाव यह कि रामचन्द्रजीहीको बोलने दो, जिसमें परशुरामजी शान्त हो जायँ। जब जनक ही डर गये तो भला पुरनारियोंकी कौन कहे? इसीसे उनका माधुर्यमें अधिक मग्न होना दिखाया, जनकजी तो डरे ही और ये थर-थर काँपने लग गयीं। इन्होंने '*खोट बड़ भारी*' जो कहा इसमें इनका प्रेम झलकता है। यह लोकोक्ति है। (ख) '*छोट कुमार खोट बड़ भारी*' इति। भाव यह कि बड़ा कुमार जैसे ही बड़ा सीधा है वैसे ही यह बड़ा नटखट है। पुन: भाव कि '*खोट बड़ भारी*' से तीन कोटियाँ दिखायीं—खोटा, भारी खोटा और बड़ा भारी खोटा। विश्वामित्रजीका निहोरा करनेपर कठोर वचन कहे इससे खोटा। '*द्विज देवता घरहि के बाढ़े*' और इसके साथके वचन कहनेसे 'भारी खोटा' और बड़े भाईके रोकनेपर भी अबकी फिर अनुचित वचन कहे, इससे 'बड़ा भारी खोटा' कहा। प्रथम बार साधारण खोटा जान किसीने कुछ न कहा। जब भारी खोटापन किया तब '*अनुचित कहि सब लोग पुकारे।*' (२७६। ८) और श्रीरामजीने '*सयनहि लषन नेवारे।*' बड़ा भारी खोटा जाननेपर जनकजीसे भी न रहा गया, पुरवासी तो कह ही उठे कि बड़ा भारी खोटा है। (ग) '*सुनि सुनि निरभय बानी*······*हानी*' इति। सुनि-सुनि कहकर जनाया कि क्रमश: रिस बढ़ती है और उसी क्रमसे शरीर अधिक संतप्त होता है और उसी क्रमसे बल उत्तरोत्तर घटता जा रहा है। '*निरभय बानी*' से जनाया कि वे जो कुछ कहते थे वह लक्ष्मणजीको भयभीत करनेको कहते थे, पर ये डरते न थे, उलटे उत्तर देते थे, इससे वे जले जाते थे। यदि ये डर जाते तो रिस आदि सब शान्त हो जाती।

नोट—२ '*बोले रामहि देइ निहोरा।*······' इति।—'*घोर धार भृगुनाथ रिसानी*' जो पूर्व कह आये हैं, वह धारा अब दूसरी ओरसे भी टूटकर तीसरी ओर गयी। पहले जब लक्ष्मणजीने तोड़ा तब विश्वामित्रजीका निहोरा लिया, अब रामजीका निहोरा लेते हैं। कभी बालकका बहाना करते, कभी कौशिकके शीलसे और कभी रामजीके एहसानसे बचा देना बताते हैं इत्यादि, और वस्तुत: तो हाथ ही नहीं उठता जो मार सकें। रामचन्द्रजीने तो कहा कि अपना शिशु-सेवक जानकर कृपा कीजिये और ये कहते हैं कि तुम्हारा भाई

* बोले बिहँसि—१७०४। † बहुरि—छ०। तुरत—१७०४।

जानकर छोड़ते हैं। (रा० कु०) लक्ष्मणजीने जो कहा था कि *'बिप्र बिचारि बचौं नृपद्रोही।'* (२७६। ६) उसीकी जोड़में परशुरामजी कहते हैं—*'बचौं बिचारि बंधु लघु तोरा।'*

नोट—३ *'बिष रस भरा....'* इति। पहले कहा था कि *'कालकूट मुख'* है, अर्थात् मुखमें विष भरा है, अब कहते हैं कि इसके शरीरभरमें भीतर विष-ही-विष भरा है, ऊपर देखनेमें सुन्दर देख पड़ता है, इससे जान नहीं पड़ता। भाव यह कि विषैले वचन बोलता है। साधारण बातकी विशेषसे समता दिखाना 'उदाहरण अलंकार' है।

४ *'सुनि लछिमन बिहसे बहुरि.......'* इति। (क) हँसे कि बातका उत्तर तो देते नहीं बनता, दूसरेसे निहोरा करते हैं। पहले उत्तर न दे सके तब विश्वामित्रसे निहोरा किया, उनपर एहसान रखा कि *'उतर देत छोड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥'* अब श्रीरामजीपर निहोरा जनाते हैं—*'बचौं बिचारि बंधु लघु तोरा।'* पुनः भाव कि हमको कहते हैं कि *'मन मलीन तन सुंदर.......'* और वास्तवमें स्वयं ही वैसे हैं। गौर तन हैं और विषैले क्रोध भरे कठोर वचन उगल रहे हैं, अपना दोष नहीं सूझता। यह उदाहरण तो आपहीपर लागू है। (ख) *'बहुरि'*—पहले हँसे थे—*'लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल।'* (२७७) अब फिर हँसे। (ग) *'नयन तरेरे राम'*— हँसना बहुत अनुचित समझकर आँखें तिरछीकर डाँटा। हँसते देख समझ गये कि फिर कुछ कहेंगे, अतः नेत्रोंके इशारेसे रोका। 'यहाँ सूक्ष्म अलंकार' है। (घ) *'गुर समीप गवने'*— इससे जनाया कि अबतक खड़े-खड़े बातें कर रहे थे। मंचपरसे कुछ नीचे थे, विश्वामित्रजीके पास न थे। (ङ) *'सकुचि'*—अदबके कारण नजर तिरछी और कड़ी देख तुरत रुक गये। प्रभुको अप्रसन्न देख गुरुके पास गये, क्योंकि *'राखै गुरु जौं कोप बिधाता।'* (१६६। ६) (पं० रा० कु०) सकुच प्रभुकी अप्रसन्नता समझकर हुआ। अथवा, गुरुके समीप जानेमें संकोच हुआ कि इन्होंने हमसे परशुरामजीको प्रणाम कराया था और हमने उनको कटु वाक्य कहे, कहीं गुरु इसको कुछ मनमें न लावें इत्यादि। (पं०) (च) *'परिहरि बानी बाम'* इति। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि लक्ष्मणजी कुछ कड़वे वचन कहनेको थे, यदि श्रीरामजीने नजर कड़ी न की होती।

अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले रामु जोरि जुग पानी॥ १॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचनु करिअ नहिं काना॥ २॥
बररै बालकु एकु सुभाऊ। इन्हहिं न संत बिदूषहिं काऊ॥ ३॥

शब्दार्थ—कान करना=सुनना, ध्यान देना। कान न करना=ध्यान न देना; सुनी-अनसुनी कर जाना। **बररै** (बर्रै)=भिड़, बर्रैया, तितैया। (श० सा०)=बावला, पागल। (नं० पं०)। बिदूषना=दोष लगाना।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी दोनों हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्र, कोमल, शीतल वाणी बोले॥ १॥ हे नाथ! सुनिये। आप तो स्वभावसे ही सुजान हैं। बालकोंके वचनोंपर कान न दीजिये॥ २॥ बर्रों और बालकोंका एक स्वभाव है। इन्हें संत कभी दोष नहीं लगाते॥ ३॥

नोट—१ (क) *'अति बिनीत'* अर्थात् अत्यन्त विनम्र। एवं विशेष नीतियुक्त। (पं०) [यह अर्धाली *'जल सम बचन'* की व्याख्या है। जल निसर्गतः शीतल और मृदु अर्थात् निम्नगामी (विनीत) होता ही है। (प० प० प्र०)] (ख) क्षमाकी प्रार्थना है, इसीसे हाथ जोड़कर बोले। हाथ जोड़ना भी 'अत्यन्त' नम्रताका सूचक है। हाथ जोड़नेके और भाव ये हैं—ब्राह्मण हैं, शिवजीके शिष्य हैं, अवस्थामें बड़े हैं, गुरु विश्वामित्रजीके सम्बन्धी हैं। दोनों हाथ जोड़नेका भाव कि मैं आयुध छोड़कर सामने खड़ा हूँ। (पं०, रा० प्र०) अथवा मैं अपने और लक्ष्मणजी दोनोंकी ओरसे हाथ जोड़ता हूँ; क्योंकि भाई भुजाके समान होता है। (पं०) वा वर्ण और अवस्था दोनोंमें बड़े होनेसे दोनों हाथ जोड़े। (पं०) हाथ जोड़ना प्रसन्न करनेकी मुद्रा है।

नोट—२ *'सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना।.......'* इति। (क) *'तुम्ह सहज सुजाना'* का भाव कि आप

सुजान हैं, बालक अजान (अबोध) है, अज्ञ है। आप सत्-असत्के ज्ञाता हैं, बालकको बुरे-भलेका ज्ञान नहीं। आप समझ सकते हैं, उसमें समझनेकी शक्ति नहीं। पुनः *'सहज सुजान'* में सूक्ष्म आशय यह है कि आप हमारे अंश हैं, आवेशावतार हैं, आप बालकके वचनोंका आशय समझें कि आपके अवतारका कार्य पूर्ण हो चुका, अब आप वीरबाना उतारकर मुनिकी तरह वनमें जाकर तप करें। (पं०) (ख) *'करिअ नहिं काना'* अर्थात् वचनोंको सुनी-अनसुनी कर जाइये। दूसरा सूक्ष्म आशय यह है कि वचनोंपर न जाइये किंतु वचनोंका प्रयोजन, आशय, तत्त्व समझिये। (पं०)

नोट—३ *'बररै बालक·····'* इति। (क)—*'बररै'* का अर्थ प्रायः सभी प्राचीन टीकाकारोंने 'बर्रै' कीड़ेका अर्थ किया है। पंजाबीजीने 'बावरे' पाठ देकर बावला अर्थ किया है। परंतु श्रीनंगे परमहंसजीने 'बररै' पाठका ही अर्थ 'पागल' किया है। वे लिखते हैं कि 'लोग बर्रैका अर्थ 'ततैया' करते हैं जो डंक मारकर जीवोंको दुःख पहुँचानेवाली क्रूर स्वभावकी एक मक्खी है। इससे प्रसङ्ग बेमेल हो जाता है। क्योंकि वह तो जान-बूझकर दुःख देती है तथा उससे और मनुष्यसे तारतम्यता कैसी? यहाँ तो बालकका दरजा देकर नासमझपनेकी दूसरी नजीर बौरे मनुष्यकी ही देनेसे माफीका मिलान हो सकता है। अतः 'बरै' का अर्थ पागल ही यथार्थ है।' 'पागल और नादान' बच्चेकी एक-सी स्थिति है। तात्पर्य कि दोनोंकी समझ ठीक नहीं रहती। इसी कारण संत लोग इन्हें दूषण नहीं लगाते। अर्थात् यदि इनकी नासमझीसे कोई दोषका कार्य भी हो जाता है तो उसको क्षमा देते हैं। यह खयाल कर लेते हैं कि यह अपने ठीक होशमें नहीं है क्या करे? इसीसे नीतिद्वारा भी नाबालिग और पागलको जुर्ममें माफी दी गयी है।—सम्भवतः पंजाबीजीकी टीकासे यह अर्थ लिया गया है, पर उसमें 'बावरे' पाठ है। मानसमें बौरहा, बावलाके लिये 'बाउर' शब्द आया है जो यहाँ 'बररै' के स्थानपर सुगमतासे रखा जा सकता था। भाव सुन्दर है यदि कोई इस अर्थका प्रमाण मिल जाय। (ख) वीरकविजी *'बिदूषहिं'* का अर्थ 'छेड़छाड़' करते हैं ऐसा लिखते हैं। (ग) भिड़, बर्रै, बिरनी अर्थमें भाव यह है कि दोनोंका स्वभाव एक है। बर्रैको छेड़ो तो वह डंक मारती ही है, यह स्वभाव है, कुछ जान-बूझकर नहीं किंतु स्वभावसे। बालकोंको छेड़ो तो वे भी चिढ़ते, सिरपर चढ़ते और शरारत करते हैं, यह उनका चपलताका स्वभाव ही है। इससे दूसरेको दुःख होगा, यह समझ उनमें नहीं है। इसीसे संत उनको दोष नहीं देते। (घ) *'न संत बिदूषहिं काऊ'* का भाव कि आप संत हैं और सहज सुजान हैं तब आप कैसे दोष देते हैं? यदि परशुरामजी कहें कि अच्छा, हमने अनुचित वचनोंको क्षमा किया, पर धनुषके टूटनेका रोष हमारे हृदयमें बहुत है, उसे हम कैसे क्षमा करें, तो उसपर आगे कहते हैं—*'तेंहि नाहीं·····।'* (पं०)

तेंहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥ ४॥
कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं। मो पर करिअ दास की नाईं॥ ५॥
कहिअ बेगि जेहि बिधि रिस जाई। मुनिनायक सोइ करौं* उपाई॥ ६॥

अर्थ—(फिर) उसने (तो आपका) कुछ (भी) नहीं बिगाड़ा। हे नाथ! आपका अपराधी तो मैं हूँ॥ ४॥ हे गोसाईं! आप कृपा, कोप, वध, बन्धन (जो जी चाहे) मुझपर दासकी तरह (अर्थात् मुझे अपना दास समझकर) कीजिये॥ ५॥ जिस प्रकार आपका क्रोध दूर हो, हे मुनिनायक! वह शीघ्र बताइये। मैं वही उपाय करूँ॥ ६॥

नोट—१ *'तेंहि नाहीं कछु काज बिगारा·········'* इति। (क) ऊपर दो प्रकारसे लक्ष्मणजीको निर्दोष बताया।—एक तो यह कि आप सुजान हैं वह अज्ञान, दूसरे यह कि संत बालकोंको कभी दोष नहीं देते और न उनसे छेड़-छाड़ करते हैं। अब तीसरे प्रकार निरपराध दिखाते हैं कि धनुष तो तोड़ा मैंने और आप बिगड़ते हैं लक्ष्मणसे। काम बिगाड़े कोई और दण्ड पावे कोई, यह कौन न्याय है? सूक्ष्म आशय यह कि भूल व कसूर आपका ही है।

* करउँ—छ०, को० रा०। करहु—१७०४। करौं—१६६१, १७२१, १७६२।

नोट—२ *'कृपा कोपु बधु बँधव गोसाईं·······'* इति। (क)—भाव यह है कि कृपा कीजिये चाहे कोप कीजिये। जो इच्छा हो सो कीजिये। कोप करनेकी इच्छा है तो (कोपका फल) वध कीजिये अथवा बाँध रखिये। यहाँ कोपका फल 'बध बंधन' तो लिखा, पर कृपाका फल नहीं लिखा कि यदि कृपा करना चाहते हों तो क्या करें? इसका कारण यह है कि परशुरामजीके हृदयमें कृपा है ही नहीं जैसा वे स्वयं आगे कहते हैं—*'मोरे हृदय कृपा कस काऊ।'* जब हृदयमें कृपा है ही नहीं तब उसका फल लिखकर क्या करें कि कृपा हो तो ऐसा कीजिये। पेड़ ही नहीं तो फल-फूल कहाँ? (पं० रामकुमारजी) पाँड़ेजी लिखते हैं कि कृपा कीजिये तो छोड़ दीजिये। और कोप कीजिये तो चाहे वध कीजिये चाहे बाँधिये। (ख) ***'गोसाईं'*** स्वामीका पर्याय है। अपनेको दास कहते हैं अतः *'गोसाईं'* सम्बोधन दिया। पुनः, गोसाईं=इन्द्रियोंके स्वामी। अर्थात् कृपा, कोप जो भी करें वह इन्द्रियजित् मुनि विप्ररूपसे कीजिये। यह व्यङ्ग्यके वचन हैं।

नोट—३ *'मो पर करिअ दास की नाईं'* इति। (क) *'मो पर करिअ'* अर्थात् लक्ष्मणपर नहीं, कारण कि अपराधी मैं हूँ, वह नहीं। *'दास की नाईं'* इस वाक्यमें लक्षणामूलक विवक्षितवाच्य ध्वनि है कि सेवकपर कृपा की जाती हो तो कृपा कीजिये, अथवा क्रोध, वध, बन्धन किया जाता हो तो वही कीजिये। जिसमें आपका क्रोध शान्त हो, मैं हर प्रकार यत्न करनेको तैयार हूँ। पुनः, (ख) भाव कि जैसे लड़का कुछ ऐब करे तो माता-पिता थप्पड़ भी मारते हैं तो पोले हाथसे और जैसे गुरु शिष्यको शिक्षा देनेके लिये दण्ड देते हैं बस वैसी ही दया रखकर, क्रोध कीजिये। पुनः, (ग) ये वचन व्यंग्यके हैं। जो कुछ भी आप करें वह मुझे अपना दास मानकर करें। अर्थात् ब्राह्मण बनकर, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मणके दास हैं, मुझे ब्राह्मणका सेवक मानकर चाहे कृपा करें चाहे कोप, दोनों मुझे स्वीकार हैं। पर मुझे क्षत्रिय और अपना शत्रु समझकर नहीं। शत्रु और क्षत्रिय समझकर आप इनमेंसे कुछ भी करना चाहें तो मुझे मंजूर (अङ्गीकार) नहीं, क्योंकि तब तो हम कालको भी नहीं डरनेके, आपकी बात ही क्या? यथा—*'देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना॥ जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥·······।'* (२८४। १—४)

नोट—४ ***'कहिअ बेगि'*········'** इति। (क) ***'बेगि'*** देहलीदीपक है। भाव यह कि शीघ्र ही उस साधनको करनेको प्रस्तुत हूँ, आपके कहनेकी ही देर है। बड़ोंकी आज्ञा शीघ्र शिरोधार्य करनी चाहिये, इसीसे ***'बेगि'*** के साथ *'मुनिनायक'* सम्बोधन दिया। पुनः, (ख) *'मुनिनायक'* का भाव कि मननशील सम्पूर्ण व्यवहारोंके जाननेवाले इस रूपके अनुसार जो आप कहें वह मुझे करने योग्य है। (पाँ०)

नोट—५ कविने जो कहा था कि *'अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले राम',* वे *'सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना'* से यहाँतक हैं। सभी विनीत, मृदु और शीतल हैं। फिर भी महानुभावोंने तीनोंको पृथक्-पृथक् दिखाया है। जैसे कि मा० त० वि० कारका मत है कि *'बरै बालक एक सुभाऊ'* अति विनीत है, *'अपराधी मैं नाथ तुम्हारा'* मृदु है और *'कृपा कोपु बधु बँधव·········'* शीतल वाणी है और बैजनाथजीके मतानुसार *'सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना।·····काना'* अति विनीत है, *'बरै बालक······काऊ'* मृदु है।

कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे॥ ७॥
येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा। तो मैं काह कोपु करि कीन्हा॥ ८॥

दो०—गर्भ श्रवहिं अवनिप रवनि सुनि कुठारु गति घोर।
परसु अछत देखौं जिअत बैरी भूप किसोर॥ २७९॥

शब्दार्थ—**अनैसे**=बुरे भावसे; बुरी तरहसे, अहित दृष्टिसे, शत्रु-दृष्टिसे। **अवनिप रवनि**=राजाओंकी स्त्रियाँ। **रवनि** (रमणी)=स्त्री, रानी। **श्रवहिं**=गिर जाते हैं, टपक पड़ते हैं।

अर्थ—मुनिने कहा—राम! रिस कैसे दूर हो। अब भी तो तेरा भाई बुरी तरहसे (टेढ़ी चितवन किये) देख रहा है॥ ७॥ इसके गलेमें कुठार न दिया तो मैंने क्रोध करके क्या किया?॥ ८॥ मेरे जिस फरसेकी

घोर चाल (भयंकर करनी) सुनकर रानियोंके गर्भपात हो जाते हैं, उसके रहते हुए भी मैं वैरी राजकुमारको जीवित देख रहा हूँ॥ २७९॥

नोट—१ (क) *'जाइ रिस कैसे'*······' इति। भाव कि तुम क्रोध शान्त होनेका उपाय पूछते हो, पर वह उपाय तुम्हारे वशका नहीं है, इसीसे क्रोध जा नहीं सकता। *'अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे'*—भाव कि तेरा भाई ही क्रोधको उद्दीप्त करता है। यह हमारा उत्कर्ष सह नहीं सकता। लक्ष्मणजीकी अनैसी चितवनसे उनके उत्कर्षके न सह सकनेकी अक्षमता 'असूया सञ्चारी भाव' है। भाव यह कि जबतक यह आँखोंकी ओट न होगा तबतक रिस जा नहीं सकती, यह क्रोधको अधिक प्रज्वलित करनेसे बाज न आवेगा। पुनः, (ख) *'अजहुँ'* कहनेका भाव कि तुम्हारे मना करनेपर, तरेरनेपर, टेढ़ी वाणी तो छोड़ दी पर चपलतासे बाज न आया, टेढ़ी दृष्टिसे देख रहा है। (ग) *'अजहुँ चितव अनैसे'* अर्थात् पहले कुछ बहुत ही कठोर वचन उत्तरमें मुँहसे निकालनेवाला था, पर तुम्हारे डाँटनेसे रुक गया और चला गया था। किंतु उसकी कसर *'अनैसी'* दृष्टिद्वारा निकाल रहा है। (पं० रा० कु०) (घ) पुनः भाव कि जबतक इसकी कुटिलता न मिटेगी तबतक रिस न जायगी।

नोट—२ *'येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा'*······' इति। श्रीरामजीने जो कहा था कि आप कोप करके वध करें अथवा बन्धन करें, उसके उत्तरमें परशुरामजी कहते हैं कि तुम मेरा कोप करना कहते हो पर इसके कण्ठमें मैंने कुठार नहीं दिया, इसका सिर नहीं काटा, तो कोप करनेसे हुआ ही क्या? कोप व्यर्थ ही तो हुआ। क्योंकि अतिकोपका फल वध है सो हमने नहीं किया। यहाँ परशुरामके मुखसे उनका अतिक्रोध वर्णन करके रघुनाथजीके इस व्यंग वचनको कि उन्हें मुनिनायक कहा पुष्ट करते हैं; क्योंकि सामान्य कोपका फल बन्धन है सो इसको परशुरामजी अपने उत्तरमें कुछ नहीं कहते हैं'।—(पाँड़ेजी) *'अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे'* कहकर *'येहि के'*······' कहनेका भाव कि इसकी कुटिलता दूर करनेका यही उपाय है, दूसरा नहीं। यह उपाय कर लेनेपर फिर रिस शान्त हो जायगी।

नोट—३ *'गर्भ श्रवहिं'*······' इति। (क) पाँड़ेजी लिखते हैं—'यहाँ परशुरामजी अपनेको और अपने कुठारको 'छत' कहते हैं और शत्रुको 'अछत'। अपना छत चौपाईमें कहा, अब कुठारका छत कहते हैं कि फरसा जिसकी घोर गतिका देखना तो गया, सुनते ही रानियोंके गर्भ गिर पड़ते हैं, उसके रहते भी मैं वैरी राजकुमारको जीता देखता हूँ।' (ख) *'भूप किसोर'* का भाव कि गर्भके बच्चेतक तो मेरे कोपके डरसे न जीवित रहते थे और यह तो किशोरावस्थाका है और सामने है तथा वैरी है तब भी मैं इसे नहीं मार रहा हूँ। यह आश्चर्य है। अथवा, भाव कि तुम कहते हो कि रिस दूर होनेका उपाय कहिये पर मैंने कोप किया है क्या? इसका सबूत साफ है कि वैरीको अबतक मारा नहीं। (पं०) (ग) *'अवनिप रवनि'* का भाव कि जैसे अवनी (पृथ्वी) कठोर है, वैसे ही उसके पालनेवाले 'अवनिपों' का हृदय कठोर है, उसी तरह उनकी रानियोंके हृदय कठोर हैं, फिर भी मेरे कुठारकी भयंकरता सुनकर ही उनके भी गर्भ गिर जाते हैं। यदि कोई कहे कि फिर मारते क्यों नहीं? उसपर आगे कहते हैं—*'बहै न हाथ'*······।'

बहै न हाथ दहै रिस छाती। भा कुठारु कुंठित नृपघाती॥ १॥
भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदय कृपा कसि काऊ॥ २॥
आजु दया* दुखु दुसह सहावा। सुनि सौमित्रि बिहसि† सिरु नावा॥ ३॥

शब्दार्थ—**बहै**=उठता या चलता है। बहना=चलना। **कुंठित**=गोठिल, कुंद।

अर्थ—हाथ नहीं चलता, छाती रिससे जल रही है, राजाओंका नाश करनेवाला फरसा कुण्ठित

* दैव—१७०४, को० रा०। दया—१६६१, छ०। दयाँ—१७२१, १७६२,।

† बहुरि—१७०४, को० रा०। बिहसि—१६६१, १७२१, १७६२ छ०।

हो गया॥ १॥ विधाता विपरीत हो गया (इससे) स्वभाव बदल गया। (नहीं तो भला) मेरे हृदयमें कभी भी कृपा कैसी?॥ २॥ आज दयाने मुझे कठिन दु:ख सहन कराया। यह सुनकर लक्ष्मणजीने हँसकर सिर नवाया (प्रणाम किया)॥ ३॥

प० प० प्र०—'*भा कुठारु*......' यहाँतक अघटित-घटना-पटीयसी भगवती दैवी मायाने लक्ष्मणजीके वचनोंको निमित्त करके परशुरामके पराक्रम, तेज, बल, प्रताप, कठोरता इत्यादि भगवद्दत्त दैवी सामर्थ्यको छीन लिया है। इस प्रसंगमें परशुरामके अवतारकी समाप्ति होती है और वे केवल कोरे भृगुसुत रह जाते हैं। कुठारगतिके कुण्ठित होनेमें 'जानकी' और युगल कुमारोंको दिया हुआ उनका आशीर्वाद भी एक कारण है।

टिप्पणी—१ '*बहै न हाथ*......' इति। (क) परशुरामजी यहाँ सहेतुक बात कह रहे हैं। '*येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा।*' (२७९। ८) का हेतु कहते हैं कि हाथ नहीं चलता और '*परसु अछत देखौं जिअत बैरी भूप किसोर।*' (२७९) का हेतु बताते हैं कि '*भा कुठारु कुंठित नृपघाती*'। फिर '*बहै न हाथ*' और '*भा कुठारु कुंठित*' इन दोनोंका हेतु आगे कहते हैं '*फिरेउ सुभाऊ।*' स्वभाव फिरनेका हेतु '*भयेउ बाम बिधि*' कहते हैं। (ख) ['*परसु अछत देखौं जिअत*' इसपर यदि कहो कि फिर मारते क्यों नहीं? उसपर कहते हैं कि हाथ नहीं चलता, हाथ न चलनेसे क्रोध निकलता नहीं (हाथ चलता तो क्रोध शान्त हो जाता), इसीसे छाती जलती है। क्या कारण है, सो कहते हैं कि न जाने राजाओंको काटते-काटते इसकी धार चली गयी, धार मोटी पड़ गयी, यह 'भोथाय गया, अथवा विधाता प्रतिकूल हो गये, इससे नहीं चलता। स्वभावका पलट जाना, शत्रुपर कृपा करना, यही विधिकी वामता है, क्योंकि '*रिपु पर कृपा परम कदराई*' है। इसीसे तो '*कायर*' कहे गये। (यथा—'*कायर कथहिं प्रतापु।*' २७४)। (प्र० सं०)] (ग) पुन: '*बहै न हाथ*' का भाव कि हाथमें कुठार है पर चलता नहीं (हाथ मारनेको उठता नहीं)। चलता क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं कि '*नृपघाती*' है, नृपोंका घात करते-करते कुण्ठित हो गया इसीसे चलता नहीं।

टिप्पणी—२ '*भयेउ बाम बिधि*........' इति। (क) शत्रुपर कृपा होना विधिकी वामता है, शत्रुपर कृपा करनेवाला कादर कहा जाता है, यथा—'*रिपु पर कृपा परम कदराई।*' (३। १८) (ख) '*भयेउ*......*सुभाऊ*' का भाव कि हमारा स्वभाव विनती करने, हाथ जोड़ने, पैरोंपर पड़ने इत्यादि किसी उपायसे भी नहीं फिरता, अर्थात् हम कृपा कभी नहीं करते। विधाता वाम हुआ है, इसीसे फिरा है। '*भयेउ बाम बिधि*' देहली-दीपक है। कुठार कुण्ठित हुआ विधिकी वामतासे और स्वभाव फिरा सो भी विधिकी प्रतिकूलतासे। (ग) श्रीलक्ष्मणजीको नहीं मारते। इसके दो हेतु कहते हैं—एक तो कुठार कुण्ठित हो गया, दूसरे कृपा आ गयी। ये दोनों हेतु विधिकी वामतासे उपस्थित हो गये।

टिप्पणी—३ '*आजु दया दुखु*......' इति। (क) '*आजु*' का भाव कि हमने वैरी-(राजाओं-) पर अभीतक कभी भी कृपा नहीं की थी, आज ही की है। '*दया दुखु दुसह*' का भाव कि हमने ऐसा दु:ख कभी नहीं सहा। न हमने किसी राजापर कृपा की, न कोई राजा हमारे सम्मुख बोल सका। (आज दया की। उसका फल यह मिला कि यह सम्मुख उत्तर देता है जिससे असह्य दु:ख हो रहा है। गुणमयी दयाको दोषरूप कहनेमें 'लेश अलंकार' है)। (ख) '*सुनि सौमित्रि*' इति। '*सौमित्रि*' का भाव कि ये श्रीसुमित्राजीके पुत्र हैं [इनका कारण ही 'सुमित्रा' 'सुष्ठु मित्र' (भाववाला) है, तब ये भी क्यों न उसी भाववाले हों], सबसे मित्रता रखते हैं। ये परशुरामजीसे कुछ अन्त:करणसे विरोध नहीं रखते हैं, केवल ऊपरसे कटु वचन (उनको परास्त करनेके लिये उनके प्रत्युत्तरमें) कहते हैं। (ग) '*बिहँसि*'—परशुरामजीके वचन पूर्वापरविरुद्ध हैं। वे क्रोध और दया दोनोंका होना कहते हैं, यही समझकर लक्ष्मणजी हँसे। भाव यह कि जहाँ कोप होता है वहाँ कृपा नहीं होती और जहाँ कृपा होती है वहाँ कोप नहीं होता और ये अपनेमें दोनों कहते हैं कि रिससे छाती जलती है और दयासे दुसह दु:ख है। दयासे भला दु:ख होता है, उससे तो हृदय शान्त और शीतल होना चाहिये (प्र० सं०)। (घ) '*सिरु नावा*' इति। भाव कि '*बाउ कृपा मूरति अनुकूला।*

बोलत बचन झरत जनु फूला।' (चौ० ४) ऐसी मूर्तिको नमस्कार है। उनको मूर्ति कहते हैं और मूर्तिको नमस्कार करना ही चाहिये। अतः नमस्कार किया। [पुनः भाव कि आप धन्य हैं। (पं० रा० प्र०) यह दूषण-सूचक आदरणीय दण्डवत् है। (वै०)]

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥ ४॥
जौं पै कृपा जरिहि* मुनि गाता। क्रोधु भए तनु राख बिधाता॥ ५॥

शब्दार्थ—**बाउ** (वायु)=हवा, पवन। **राख**=रखें, रक्षा करें।

अर्थ—(और कहा—) आपकी कृपारूपी वायु आपकी मूर्तिके अनुकूल ही है। (आप) वचन बोलते हैं मानो फूल झड़ रहे हैं!॥ ४॥ हे मुनि! यदि कृपा करनेसे (सत्य ही) आपका शरीर जल जाता है तो क्रोध होनेपर तो शरीर विधाता ही रखें॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'बाउ कृपा·······'* इति। यहाँ व्यंग्यसे कहते हैं कि आपका स्वरूप कराल है। करालरूप क्रोध वायु है। क्रोधसे निकले हुए वचन आगके फूल (आगके अङ्गारोंकी चिनगारियाँ) हैं। वायुसे फूल झड़ते हैं, वैसे ही कृपासे कोमल वचन निकलते हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी कृपा तो आपके वचनोंसे ही प्रकट हो रही है। कृपामें ऐसे ही मधुर वचन बोलने चाहिये (जैसे आप बोल रहे हैं)? यहाँ क्रोधके स्थानमें *'कृपा'* और कराल रूपके स्थानमें *'मूरति'*, प्रतिकूलके स्थानमें 'अनुकूल' और (विषैले) कठोर बोलनेके स्थानमें फूलोंका झड़ना कहना व्यंग्य है। *'बाउ कृपा मूरति अनुकूला'* का भाव कि जो अनुकूल होता है वह कृपा करता ही है—यह *'आजु दया दुखु दुसह सहावा'* का उत्तर है। [प्र० सं० में *'मोरे हृदय कृपा कस काऊ'* का उत्तर इसे कहा था। यह रूपकका अङ्गी 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। कृपा, अनुकूल मूर्ति और फूलका झरना अपने-अपने वाच्यार्थको छोड़कर तद्विपरीत अर्थका बोध कराते हैं। यह लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। (वीरकवि)]

नोट—१ अन्य टीकाकारोंके भाव—(क) जैसी आपकी सौम्य शान्त मूर्ति है, उसीके अनुकूल कृपा भी हुआ चाहे। इसीसे आप वैसे ही मृदु वचन भी बोलते हैं, मानो फूल झड़ रहे हैं। (पं०) पवनके वेगसे वृक्षसे फूल झड़ते ही हैं, वैसे ही कृपाके वेगसे मूर्तिरूपी वृक्षसे वचनरूपी फूल झड़ते (निकलते) हैं। (ख) मूर्तिके अनुकूल कृपा भी है अर्थात् आपकी मूर्ति विषकी बेलिके समान है, उसीके अनुकूल विषैली वायुसम कृपा भी उस मूर्तिमें लगकर शोभित हो रही है। इस तरह कि उस पवनके प्रसङ्गसे आप जो वचन बोलते हैं वे ही मानो फूल झड़ते हैं। भाव कि आप वचन भी विषैले बोल रहे हैं। (वै०) (ग) 'जिस रसकी वायुमें आप भर रहे हैं वही आपकी कृपा वायु है और आपका मूर्तिरूपी वृक्ष उसीके अनुकूल है अर्थात् क्रोधका भरा हुआ है। अथवा आपकी कृपाकी *'बाउ'* है, आपकी मूर्ति अनुकूल अर्थात् शान्त है। आप जो ये वचन बोलते हैं वे उस मूर्तिरूपी वृक्षसे फूल झड़ रहे हैं' (पाँ०)। (घ) मा० त० वि० कार यह अर्थ लिखते हैं—'कृपामूर्तिरूपी वायुके अनुकूल वचन जो आप बोल रहे हैं ये मानो फूल ही झड़ रहे हैं।' (ङ) बाबू श्यामसुन्दरदासजीने *'बाउ कृपा'* का अर्थ 'वाह री कृपा' किया है। पर कोशमें *'बाउ'* का ऐसा अर्थ मुझे कहीं नहीं मिला। इसके अतिरिक्त सम्भवतः पाँड़ेजीके आधारपर उन्होंने और भी अर्थ दिये हैं—'जिस वायुकी कृपासे आप बोलते हैं, उसकी कृपा है, यानी आप तो शान्त स्वभाव हैं, पर उस हवासे ही क्रोध है, वायु मूर्तिके अनुकूल ही (शान्त) है।' (च) श्रीनंगे परमहंसजीका अर्थ—'आपकी मूरति अनुकूलरूप वृक्षसे कृपारूप वायुके बोलत वचनरूप फूल झरत।'

टिप्पणी—२ *'जौं पै कृपा·······'* इति। (क) परशुरामजी अपने हृदयमें कोप और कृपा दोनों कहते हैं। *'बहै न हाथ दहै रिस छाती'* यह क्रोध है और *'आजु दया दुखु दुसह सहावा'* यह कृपा है। लक्ष्मणजी दोनोंका उत्तर देते हैं—*'जौं पै'* (ख) *'जौं पै'*— गहोरादेशमें 'जौं' के स्थानमें *'जौं पै'* बोलते हैं। जौं

* जरहिं—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। जरिहि—१६६१।

पै=जो। (अथवा, जौ पै=जो निश्चय ही। 'पै'=निश्चय, अवश्य यथा—*'सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुस में कछु पै कहिहैं'*)। (ग) *'जौ पै कृपा जरिहि मुनि गाता'* का भाव कि (कृपामें तो शरीर शीतल रहता है। आप मुनि हैं, आपने आश्चर्य कर दिखाया कि कृपाहीमें शरीर जला जाता है, नहीं तो) कृपा तो जल (सदृश) है, यथा—*'कृपा बारिधर राम खरारी।'* (६। ६९) शीतल है अतः जब जलमें वा शीतलतामें आपके गात जले जाते हैं तब तो क्रोधाग्निसे विधाता ही शरीरकी रक्षा करते हैं क्योंकि *'हानि लाभु जीवन मरन जसु अपजसु बिधि हाथ।'* (२। १७१) जीवन-मरण विधाताके हाथ है, इसीसे विधाताका रक्षा करना कहा। तनकी रक्षाके लिये *'बिधाता'* शब्द दिया। जो धारण-पोषण करे वह विधाता है—'डुधाञ् धारणपोषणयोः।'— [*'राख'* का अर्थ 'रखते हैं, रखते होंगे; 'रखेंगे' भी किये गये हैं']।

देखु जनक हठि बालकु एहू। कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू॥ ६॥
बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा। देखत छोट खोट नृप ढोटा॥ ७॥

शब्दार्थ—**हठि**=हठ करके।=हठी (नं० प०)।=रोक, यथा—*नयन नीर हठि मंगल जानी।'* **ओटा**=आड़; परदा।

अर्थ—(लक्ष्मणजीके वचन सुनकर परशुरामजी जनकजीसे बोले—) हे जनक! देख, यह मूर्ख बालक हठ करके यमपुरी-(नरक-) में अपना घर बनाना चाहता है॥ ६॥ इसे शीघ्र ही आँखोंकी ओटमें क्यों नहीं कर देते? यह राजकुमार देखनेमें छोटा है पर है खोटा॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) उत्तर देते न बना, न कुछ जोर ही चलता है, इससे अब जनकजीपर आये। पहले विश्वामित्रजीको निहोरा दिया, यथा—*'कौशिक सुनहु मंद येहु बालकु।'* (२७४। १) फिर श्रीरामजीको निहोरा देकर बोले, यथा—*'बोले रामहि देइ निहोरा।'* (२७८। ७) क्योंकि इन्होंने इशारेसे लक्ष्मणजीको रोका था और क्षमाकी प्रार्थना की थी। पंजाबीजी कहते हैं कि परशुरामजी समझते थे कि रामजीके डाँटनेसे लक्ष्मणजी चुप हो गये हैं, अब न बोलेंगे। पर जब उन्होंने देखा कि वे फिर भी बोल उठे तब यह समझकर कि वे श्रीरामजीके भी काबू-(वश-) के नहीं हैं, वे जनकमहाराजसे बोले। यहाँ श्रीजनकजीसे कहनेका भाव यह है कि पूर्व जनकजीने कहा था कि चुप रहो, अनुचित अच्छा नहीं है, यथा—*'बोलत लषनहि जनकु डेराहीं। मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।'* (२७८। ४)—जनकजीके इन वचनोंका बल पाकर अब जनकजीसे कहने लगे। विश्वामित्रजीसे केवल मना करनेको कहा था, यथा—*'तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा।'* (२७४। ४) और इनसे लक्ष्मणजीको आँखोंकी ओट करने अर्थात् सामनेसे हटा देनेको कहते हैं। कारण यह कि यह कुमार तो उनके साथ ही है, उनसे हटानेको क्योंकर कहें, दूसरे उन्होंने पहली बार भी उसे कुछ न कहकर उलटे परशुरामजीको ही समझा-बुझा दिया था, अतः उनसे कहना व्यर्थ समझा। परशुरामजीका तेज घटता जा रहा है। वे क्रमशः एक-एकका निहोरा करते जाते हैं। पूर्व जो कहा था कि *'होइ बल हानी।'* (२७८। ६) वही दशा कवि दिखाते चले जाते हैं। राजा जनकके ऊपरसे रोष हट गया, केवल लक्ष्मणजीसे वश नहीं चलता और न कहीं आश्रय ही मिलता है।

(ख) *'हठि'*—भाव कि हम तो बहुत बचाते हैं पर यह हठ करके मरनेपर उतारू है। *'जड़'*—भाव कि इसे अपनी मृत्यु नहीं समझ पड़ती। (ग) *'जमपुर गेहू'* इति। जो पाप करता है वह यमपुरीको जाता है, यथा—*'जमपुर पंथ सोच जिमि पापी।'* (२। १४५) और परशुरामजीने पूर्व लक्ष्मणजीको पापी कहा ही है, यथा—*'राम तोर भ्राता बड़ पापी।'* (२७७। ६) इसीसे अब यमपुरको जाना कहते हैं। यमपुरमें घर बनाना चाहता है अर्थात् यह बहुत दिनोंतक यमपुरीमें वास करना चाहता है। 'बड़ा पापी' है इससे बहुत काल नरकमें रहेगा। यह *'बड़ पापी'* का फल कहा।

टिप्पणी—२ *'बेगि करहु किन……'* इति। (क) *'बेगि'* कहनेका भाव कि हम इसे पलभर भी नहीं देख सकते। पुनः भाव कि यह फिर कटु वचन कहना ही चाहता है। अतः इसे शीघ्र ही आँखोंसे ओझल कर दो। (अथवा शीघ्र हटा दो, नहीं तो बस अब हम इसे तुरत मारते ही हैं, इसका पाप तुमको लगेगा।)

(ख) *'करहु किन ?'*—शीघ्र क्यों नहीं हटाते? भाव कि क्या तुम मेरे हाथों इसकी मृत्यु देखना चाहते हो? अथवा, यह हमको कटु वचन कहता है, तुमको उसका कटु बोलना प्रिय लगता है इससे नहीं हटाते? (ग) *'आँखिन्ह ओटा'* कहनेका भाव कि यह आँखोंसे देखने योग्य नहीं है। [परशुरामजी सोचते हैं कि इसके वचनोंका उत्तर तो मुझसे देते नहीं बनेगा, इससे यह ओटमें हो जाय तो कम-से-कम यह हमारे वचनका उत्तर न देने पावे, हम मनमानी कह लें। (प्र० सं०)] (घ) *'देखत छोट खोट नृप ढोटा'* इति। *'देखत छोट'* अर्थात् देखनेमें तो छोटा है पर उत्तर बड़ा पूरा देता है। *'खोट'* अर्थात् बड़ा कटुवादी है। *'खोट नृप ढोटा'* कहनेका भाव कि एक तो खोटा है, दूसरे राजपुत्र है और राजा हमको नहीं सुहाते। अतएव इसे आँखोंकी ओटमें कर दो। श्रीजनकजीके पश्चात् पुरवासियोंने जो कहा था कि *'छोट कुमार खोट बड़ भारी।'* (२७८। ५) उसीको सुनकर परशुरामजी यहाँ कहते हैं—*'देखत छोट खोट'*; इस तरह सूचित करते हैं कि देखनेमें छोटा है पर 'खोटाई' में भारी है।

बिहसे लषनु कहा मन* माहीं। मूदे आँखि कतहुँ कोउ नाहीं॥ ८॥

दो०—परसुराम तब राम प्रति बोले उर अतिक्रोधु।
संभु सरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोधु॥ २८०॥

अर्थ—लक्ष्मणजी हँसे और मन-ही-मन कहा कि—आँख मूँद लेनेपर कहीं कोई नहीं है (अर्थात् आँखकी ओट करना तो अपने वशकी बात है, अपनी आँख बन्द कर लीजिये)॥ ८॥ तब हृदयमें अत्यन्त क्रोध भरे हुए परशुरामजी श्रीरामजीसे बोले—रे शठ! (तू) श्रीशिवजीका धनुष तोड़कर हमको ही ज्ञान सिखाता है! समझाता है!॥ २८०॥

टिप्पणी—१ (क) *'बिहसे'* का भाव कि अभी तो कहते थे कि हाथ नहीं उठता, कुठार नहीं चलता और अब कहते हैं कि *'कीन्ह चहत जमपुर गेहू'* अर्थात् हमें यमपुर पहुँचानेको कहते हैं। इन्हें अपने पूर्वापर वचनोंका सँभाल भी नहीं है। पूर्वापरविरुद्ध वचन कहते हैं। जब कुठार ही नहीं चलता तब हमारा यमपुरमें वास कैसे होगा? पुनः प्रथम कहा कि हमारे हृदयमें दया आ गयी और अब कहते हैं कि *'बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा।'* भला, जिसके ऊपर दया होती है उसे कोई आँखोंकी ओट करता है? (ख) *'कहा मन माहीं'*— मनमें कहनेका भाव कि परशुरामजी जनकजीको निहोरा देकर बोले थे—*'देखु जनक हठि बालक एहू'*; अतएव श्रीजनकजीके संकोचसे लक्ष्मणजीने प्रकट न कहा, मनमें कहा। (ग) *'मूदे आँखि'* कहनेका भाव कि हम तुम्हारे करनेसे आँखोंकी ओट नहीं होनेके, तुम अपनी ही आँखें बन्द कर लो। (घ) *'कतहुँ कोउ नाहीं'*— भाव कि हम ही नहीं, सारा समाज ही आँखोंकी ओट हो जायगा, क्योंकि तुम्हें कोई भी राजा नहीं सुहाता। [*'मूँदे······'* में दृष्टि-सृष्टिवाद सूचित है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'परसुराम तब······'* इति। (क) *'तब'* अर्थात् जब लक्ष्मणजी आँखोंकी ओट न हुए तब श्रीरामजीसे क्रोध करके बोले। तात्पर्य कि इनके हटाये यह हट जाता, पर ये हटाते नहीं, हमको कटु वचन कहलाते हैं जैसा आगेके वचनोंसे स्पष्ट है।—[श्रीरामजीपर ही अब कुपित हो उठे और किसीपर नहीं। कारण कि और किसीको तो यह लड़का कुछ समझता ही नहीं और इनके नेत्रके इशारेमात्रपर दुबक जाता है, यथा—*'रघुपति सयनहि लषनु नेवारे।'* (२७६। ८) *'नयन तरेरे राम। गुर समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम।'* (२७८) यदि ये मना करते तो यह क्यों न चुप हो जाता। ऐसा विचारकर निश्चय किया कि अवश्य सब इन्हींका कसूर है। (प्र० सं०)] ये चाहते तो वह आँखोंकी ओट हो जाता। (ख) *'उर अतिक्रोधु'*— उसको सिखाते नहीं, उलटे हमको उपदेश देते हैं जैसा

* मुनि पाहीं—१७०४, को० रा०। मन माहीं—१६६१, १७२१, १७६२ छ०।

आगे स्पष्ट है, इसीसे 'अति क्रोध' है। (ग) *'संभु सरासन तोरि सठ…'*— अर्थात् हमारी वस्तु बिगाड़कर हमहीको ज्ञान सिखाता है—इसीसे 'अति क्रोध' हुआ। छलीको शठ कहते हैं। शठ है अर्थात् छली है, यथा—*'तू छल बिनय करसि कर जोरे', 'छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही।'* (घ) ***'करसि हमार प्रबोधु'*** इति। *'सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचनु करिअ नहिं काना॥ बरै बालकु एकु सुभाऊ। इन्हहि न संत बिदूषहिं काऊ।'* (२७९। २-३)—यह जो श्रीरामजीने कहा है, उसीको कहते हैं कि ***'करसि हमार प्रबोधु।'***

बंधु कहै कटु संमत तोरे। तू छल बिनय करसि कर जोरे॥ १॥
करु परितोषु मोर संग्रामा। नाहिं त* छाड़ कहाउब रामा॥ २॥
छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही। बंधु सहित न त मारौं तोही॥ ३॥

शब्दार्थ—**संमत**=सम्मति, सलाह, राय। **करसि**=करता है। **परितोषु**=तृप्ति; संतोष, वह प्रसन्नता जो किसी विशेष अभिलाषा या इच्छाकी पूर्तिसे उत्पन्न हो। **छाड़**=छोड़ दे।

अर्थ—तेरी (ही) सम्मतिसे (तेरा) भाई कड़वा (वचन) बोलता है और तू छलसे हाथ जोड़े हुए विनती करता है॥ १॥ संग्राममें मेरा संतोष कर, नहीं तो 'राम' कहलाना छोड़ दे॥ २॥ हे शिवद्रोही! छल छोड़कर (मुझसे) युद्ध कर, नहीं तो (मैं) भाईसहित तुझे मारता हूँ॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'बंधु कहै कटु……'* इति (क) कैसे जाना कि भाई रामजीकी सम्मतिसे कटु वचन कहता है? उत्तर—श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीके कहनेमें हैं, श्रीरामजीका बहुत संकोच मानते हैं, उनके मना करनेसे लक्ष्मणजी चुप हो जाते हैं। यथा—*'सुनि लछिमन बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम। गुर समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम॥'* (२७८) *अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सयनहिं लखनु नेवारे॥'* (२७६। ८) परशुरामजी यह सब अपनी आँखोंसे देख रहे हैं कि लक्ष्मणजी बड़े भाईका इतना लिहाज मानते हैं, उनकी आज्ञामें हैं, यदि वे इनको डाँट दें, मना कर दें, तो ये न बोलें, पर वे मना नहीं करते, इससे सिद्ध होता है कि वे ही कटु वचन कहलाते हैं। (ख) *'छल बिनय करसि कर जोरे'* इति। भाव कि अपराधीका पक्षपात करते हैं, उसे मारने नहीं देते, हाथ जोड़कर भाईको बचानेके लिये विनती करते हैं—यही छल है। (ग) *'कर जोरे'*— श्रीरामजीने हाथ जोड़कर अभी-अभी विनय की थी, यथा—*'अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले रामु जोरि जुग पानी॥'* (२७९। १) इसीसे परशुरामजी कहते हैं *'तू छल……कर जोरे'* (घ) *'……संमत तोरे। तू छल……'* कहकर जनाया कि तुम तन-मन-वचन तीनोंसे छली हो। सम्मत देना मनका छल है, विनय करना वचनका और हाथ जोड़ना तनका छल है।

टिप्पणी—२ *'करु परितोषु मोर संग्रामा।……'* इति। (क) संग्राम करके मेरा संतोष कर, इस कथनका भाव यह है कि हाथ जोड़कर विनय करनेसे जो मेरा संतोष करना चाहते हो सो नहीं होनेका, संग्रामसे ही संतोष होगा। (ख) *'नाहिं त छाड़ कहाउब रामा'* अर्थात् नहीं तो हमारी बराबरीका नाम कहलाना छोड़ दे। यहाँ परशुरामजी 'राम' नामका रखना संग्रामके अधीन कर रहे हैं। इसमें भाव यह है कि 'संग्राम' शब्दमें 'राम' शब्द मिला हुआ है। अतः जो संग्राम करके परितोष कर दें तो 'राम' नाम पावें, यदि संग्राम न करें तो 'राम' नाम न पावें। हम 'राम' लोकविजयी हैं और तुम 'राम' कहाकर भी संग्रामसे डरते हो, तो राम कहाना छोड़ दो, कादरको 'राम' नाम नहीं शोभा देता, जो हमारे-सदृश जगत्-विजयी हो वही 'राम' कहावे। यह नाम शूरवीरका ही होना चाहिये, इससे शूरवीरकी शोभा है। तुम शूरवीर नहीं हो तो जो हमारा-सा नाम रख लिया है इसे छोड़ दो।—उपर्युक्त भावसे ही 'राम' नाम छोड़नेको कहा, नहीं तो एक नामके अनेक मनुष्य होते हैं। किसका-किसका नाम छोड़ा गया है? एक नाम होनेसे

* नाहि त—१६६१। लेख प्रमाद जान पड़ता है।

कहीं बराबरीका दावा होता है? राम, लक्ष्मण, भरत नामके अनेक मनुष्य हैं, पर क्या वे इनके समान हुए जाते हैं? कदापि नहीं। यहाँ 'विकल्प अलंकार' है।

☞ मिलान कीजिये—'**त्वं राम इति नाम्ना मे चरसि क्षत्रियाधम॥ द्वन्द्वयुद्धं प्रयच्छाशु यदि त्वं क्षत्रियोऽसि वै।**......' (अ० रा० १। ७। ११-१२) अर्थात् तू मेरे ही समान 'राम' नामसे विख्यात होकर पृथ्वीमें विचरता है। यदि तू वास्तवमें क्षत्रिय है तो मेरे साथ द्वन्द्व युद्ध कर।

३ '*छलु तजि करहि समरु*......' इति। (क) '*छल तजि*'— छल वही है जो ऊपर कह आये। हाथ जोड़ना, विनती करना छल है। भाव यह कि संग्रामके डरसे हाथ जोड़ते हो, ऊपरसे ब्रह्मण्यता दिखाते हो, कहते हो कि हम ब्राह्मण जानकर हाथ जोड़ते हैं, विनती करते हैं—यह सब छल है, इसे छोड़ दो। (ख) '*सिवद्रोही*' कहनेका भाव कि तुमने भारी अपराध किया है, फिर भी छल करके बचना चाहते हो। शिवजीका धनुष तोड़नेसे शिवद्रोही हो यथा—'*सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥*' (२७१। ४) और शिवद्रोही होनेसे हमारे शत्रु हो। अतएव छल छोड़कर हमसे संग्राम कर। (ग) '*बंधु सहित न त मारौं तोही*' इति। भाव यह कि कड़वे वचन बोलनेवाला, छल करनेवाला, शिवद्रोही और शत्रु सभी वधके योग्य हैं, तेरा भाई कटु बोलता है अतः वह वध-योग्य है, यथा—'*बंधु कहै कटु*', '*कटुबादी बालकु बध जोगू।*' (२७५। ३) तू छल करता है, शिवद्रोही है और हमारा शत्रु है, यथा—'......*संमत तोरे। तू छल बिनय करसि*' इत्यादि। अतः तू भी वध-योग्य है। (घ) '*न त मारौं*' का भाव कि वध-योग्य तो दोनों ही हैं। पर हाँ! बचनेका एक ही उपाय है, वह यह कि हमसे संग्राम करके हमें सन्तुष्ट कर दो तो चाहे बच जाओ, नहीं तो नहीं।

भृगुपति बकहिं कुठार उठाए। मन मुसुकाहिं रामु सिर नाए॥ ४॥
गुनह* लखन कर हम पर रोषू। कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू॥ ५॥
टेढ़ जानि सब† बंदे काहू। बक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू॥ ६॥

शब्दार्थ—**गुनह** (फा०)=अपराध, कसूर, दोष।

अर्थ—परशुरामजी फरसा उठाये हुए बक रहे हैं। श्रीरामजी मस्तक नीचे किये हुए मन-ही-मन मुसकरा रहे हैं॥ ४॥ गुनाह (तो) लक्ष्मणजीका और क्रोध हमपर! कहीं-कहीं सीधेपनमें भी बड़ा दोष होता है॥ ५॥ टेढ़ा जानकर सभी वन्दना (प्रणाम) करते हैं। टेढ़े चन्द्रमाको राहु (भी) नहीं ग्रसता॥ ६॥

टिप्पणी—१ '*भृगुपति बकहिं*......' इति। '*बकहिं*' शब्द देकर जनाया कि श्रीरामजी न तो छली हैं, यथा—'*सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।*' (२३७। २) '*मोहि कपट छल छिद्र न भावा।*' (५। ४४) न उनको भय है, यथा—'*जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ।*' (२८४। २) न वे शिवद्रोही हैं, यथा—'*सुंदर सुखद सकल गुन रासी। ए दोउ बंधु संभु उरबासी।*' (२४६। ४) और न लक्ष्मणजीके कटु भाषणसे उनका सम्मत ही है, यथा—'*सयनहि रघुपति लखनु नेवारे।*' (२७६। ८) '*सुनि लछिमन बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम।*' (२७८) परशुराम सब बातें व्यर्थकी कह रहे हैं।

नोट—१ ग्रन्थकार अपने उपास्यका कैसा सम्मान इस शब्दसे कर रहे हैं, यह विचारनेयोग्य है। जबतक परशुरामजीने श्रीरामजीको बुरा-भला न कहा तबतक कवि सावधान रहे। जब उनके मुखसे '*शठ*', '*छल-बिनय*', '*मारउँ तोही*' ये शब्द निकले तब उनसे (कविसे) न सहा गया—और उनकी लेखनीसे '*बकहिं*' शब्द निकल पड़ा। इस शब्दसे वे सूचित करते हैं कि जो कुछ वे कह रहे हैं सब असत्य है, झूठ है, बावलोंकी-सी बक-बक है और अनाप-शनाप या प्रलापके सिवा और कुछ नहीं है। बकना (सं० वल्गसे)=डींग मारना।

---

* गुनहु—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। गुनह—१६६१।

† संका सब—१७२१, १७६२, १७०४,। बंदइ सब—को० रा०। सब बंदे-१६६१।

टिप्पणी—२ (क) *'कुठार उठाए'* इति। परशुरामजीने उत्तरोत्तर फरसेका भय दिखाया है। यथा—*'बोले चितै परसु की ओरा।'* (२७२। ४) में इशारेसे फरसा दिखाया। फिर प्रकट कहकर फरसा दिखाया, यथा—*'परसु बिलोकु महीपकुमारा।'* (२७२। ८) तत्पश्चात् हाथमें उसे लेकर भय दिखाया, यथा—*'परसु सुधारि धरेउ कर घोरा।'* (२७५। २) और अब उसे उठाकर भय दिखाते हैं—*'कुठार उठाए'*। बंधुसहित मारनेको कहा है, इसीसे मारनेके लिये कुठार उठाये हैं। (ख) *'मन मुसुकाहिं',* क्योंकि प्रकट हँसनेसे परशुरामजीकी रिस अधिक बढ़ेगी और रामजी रिस बढ़ाना नहीं चाहते किंतु रिसको दूर करना चाहते हैं, यथा—*'राम कहेउ रिस तजिय मुनीसा'*। *'मुसुकाने'* का भाव ग्रन्थकार आगे स्वयं कहते हैं—*'गुनह लखन कर……।'* अर्थात् कटु वचन तो लक्ष्मणजी कहते हैं और मारनेको हमें कहते हैं। (ग) *'सिर नाए'* का भाव कि यह सिर आपके आगे है, काटिये (चाहे रखिये), यथा—*'कर कुठारु आगे यह सीसा॥'* (७)

टिप्पणी—३ *'गुनह लखन कर……'* इति। (क) गुनाह लक्ष्मणजीका है, अर्थात् कटु वचन लक्ष्मणजी कहते हैं; उनपर रोष नहीं करते उलटे हमपर रुष्ट होते हैं। (ख) *'कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू'* इति। *'कतहुँ'* का भाव कि *'सुधाई'* में सब दिन सर्वत्र गुण ही गुण हैं, दोष *'कतहुँ'* कभी ही कहीं होता है। *'सुधाइहु'* सुधाईमें भी कहनेका भाव कि टेढ़ेपन-(टेढ़ाई-) में तो दोष है ही, पर सीधेपनमें भी दोष है। *'बड़ दोषू'* का भाव कि टेढ़ाईमें बड़ा दोष है पर कभी-कभी सिधाई भी बड़ा दोष है। पुनः भाव कि जब 'सुधाई' में कहीं-कहीं बड़ा दोष है तो कहीं-कहीं 'टेढ़ाई' में बड़ा गुण भी है जो आगे कहते हैं—*'बक्र……।'* (ग) *'गुनह लखन कर'* से लेकर *'ग्रसै न राहू'* तक मनमें ही सिर नीचा किये हुए कहा गया, यहाँ श्रीरामजीका प्रकट बोलना नहीं कहा गया। यह उनका Sololiquy स्वगत भाषण है। प्रकट बोलना आगे कहते हैं; यथा—*'राम कहेउ रिस तजिय मुनीसा।'* दूसरे, श्रीरामजी परशुरामजीसे लक्ष्मणजीका गुनाही (गुनहगार, अपराधी) होना नहीं कहेंगे (क्योंकि वे तो लक्ष्मणजीको निर्दोष कह चुके हैं), यथा—*'नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूध मुख करिय न कोहू।'* (२७७। १) *'तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा।'* (२७९। ४) (और आगे भी लक्ष्मणजीको दोषी नहीं ठहराते हैं।) यथा—*'बेषु बिलोके कहेसि कछु बालकहू नहिं दोष।'* (२८१)।*'……बंस सुभाय उतरु तेहि दीन्हा।'* अतएव स्पष्ट है कि ये वाक्य प्रत्यक्ष नहीं कहे गये, मनमें ही कहे गये हैं। (घ) *'कर'* दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है, *'गुनह लखन कर, कर हम पर रोषू।'*

मु० रोशनलाल—'कविकी युक्ति है कि सिर नवाये हुए मनमें कह रहे हैं। लक्ष्मणजीका दोष तो केवल कठोर वचन कहनेका है; वस्तुतः परशुरामजीका कोप है उसे रघुनाथजी लक्ष्मणका गुनाह नहीं कहते। क्योंकि वे प्रत्यक्ष कह चुके हैं कि*'तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं……।'* इसलिये यह अर्थ ठीक नहीं कि दोष (गुनाह) लक्ष्मणजीका है। रघुनाथजी कहते हैं कि लक्ष्मणके टेढ़े वचनपर रोष किया है, उन्हें टेढ़ा देख शङ्का है और हमें सीधा देख रोष किया, सो कहीं-कहीं सीधेपनमें भी दोष होता है—यह बात मनमें कहते हैं। पर इस अर्थमें यही इतना विरोध पड़ता है कि परशुरामको रोष पहले हुआ और लक्ष्मणजीने टेढ़ी बातें पीछे कीं, इससे वास्तवमें गुनाह रघुनाथजीका धनुष तोड़नेमें था, सो आप कह ही चुके हैं कि *'अपराधी मैं……।'* अतएव अर्थ यह किया जाता है कि *'गुनह लखन कर'* अर्थात् गुनाहको तो न लखकर हमपर रोष किया। तात्पर्य यह कि वस्तुतः गुनाह तो सीताजीमें है, जिन्होंने धनुष उठाकर पितासे पन कराया और इसीसे रघुनाथजी मनमें मुसुकाये, प्रकट कहनेमें गुनाह करनेवालेका निशान देना पड़ता है (और इसीसे 'न लख' ऐसा न कहकर 'लखन' ऐसा श्लेषालंकारसे भावको गुप्त रखा)। आगे कहते हैं कि सीधापन भी दोष है, सो यहाँ अपेक्षा किसीकी नहीं, टेढ़ाईकी नहीं कहते, केवल अपने सीधेपनपर दृष्टि करके उसी सीधेपनके दोषको अपनेमें देखते हैं और फिर उसकी अपेक्षामें टेढ़ाईका गुण कहते हैं कि उसे देख सबको शङ्का होती है। यह अर्थ इस बातसे अधिक पुष्ट

होता है कि लक्ष्मणजीकी टेढ़ाईसे परशुरामको भयका होना नहीं पाया गया, क्योंकि वे उन्हें मारनेको उपस्थित हैं—(पाँड़ेजी)।

बैजनाथजी एवं अन्य टीकाकार भी *'गुनह'* लक्ष्मणजीहीमें लगाते हैं। वचनमात्र उत्तर-प्रत्युत्तर यह गुनाह समझिये। प्रसंगानुकूल स्पष्ट यही अर्थ संगत जान पड़ता है।

टिप्पणी—४ *'टेढ़ जानि सब बंदे काहू।'''''''* इति। (क) *'कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू'* जो ऊपर है, उसीका यहाँ उदाहरण देते हैं—*'टेढ़ जानि''''''राहू।'* **'तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत्। हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम्॥'** (माघके द्वितीय सर्ग) से अर्थात् चन्द्रमा केवल पूर्णिमामें सीधा रहता है, अन्य सब तिथियोंमें वह टेढ़ा ही रहता है। रामचन्द्रजी पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान हैं और लक्ष्मणजी अन्य सब तिथियोंके चन्द्रमाके समान हैं। जो चन्द्रमा टेढ़ा है वही चन्द्रमा सीधा है, चन्द्रमा एक ही है, वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई एक ही मूर्ति हैं, लक्ष्मणरूपसे टेढ़े हैं और रामरूपसे सीधे हैं। (ख) चन्द्रमाका दृष्टान्त देनेका भाव यह है कि चन्द्रमा श्रीरामजीका मन है—*'मन ससि'* (६। १५) मनकी बात मनमें कहते हैं। मनमें कहते हैं, इसीसे मन अर्थात् चन्द्रमाकी बात कही। पुनः भाव कि चन्द्र-राहुका दृष्टान्त प्रसिद्ध है, संसारभर आँखसे देखता है, अतः चन्द्रमाका दृष्टान्त दिया। [(ग) टेढ़ा जानकर सब वन्दना करते हैं, यह उपमेय वाक्य है। टेढ़े चन्द्रमाको राहु भी नहीं ग्रसता यह उपमान वाक्य है। दोनों वाक्योंमें बिंब-प्रतिबिंबका भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है, क्योंकि यहाँ वाचक पद नहीं है। कहीं सीधेपनसे बड़ा दोष होता है। इस साधारण बातका समर्थन विशेष सिद्धान्तसे करना कि *'टेढ़ जानि''''''राहू'*, 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। (घ) ऊपर जो टि० ३ (ख) में कहा था कि कहीं-कहीं टेढ़ाईमें बड़ा गुण भी है वह भी इस दृष्टान्तमें दिखाते हैं। द्वितीयाका चन्द्रमा टेढ़ा होता है, उसकी सब वन्दना करते हैं—यह टेढ़ाईका गुण है, पर यह गुण कभी-कभी ही (मासमें एक ही बार) होता है। पूर्णचन्द्र सीधा होता है, राहु उसे कभी-कभी पर्वपर ही ग्रसता है, यह सुधाईका दोष है पर कभी-कभी ही होता है]

राम कहेउ रिस तजिअ* मुनीसा। कर कुठारु आगे येह सीसा॥ ७॥
जेहि रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी। मोहि जानिअ आपन अनुगामी॥ ८॥

दो०—प्रभुहि सेवकहि समरु कस तजहु बिप्रबर रोसु।
बेषु बिलोके कहसि कछु बालकहू† नहिं दोसु॥ २८१॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनीश्वर! क्रोधको छोड़िये, आपके हाथमें फरसा है और (मेरा) यह सिर आगे (सामने) है॥ ७॥ हे स्वामी! जैसे रिस जाय, वही कीजिये। मुझे अपना दास जानिये॥ ८॥ स्वामी और सेवकमें समर कैसा? हे विप्रश्रेष्ठ! क्रोधको त्याग दीजिये। बालक-(लक्ष्मण-) का भी (कुछ) दोष नहीं, उसने तो वेष देखकर ही कुछ कहा है॥ २८१॥

टिप्पणी—१ *'राम कहेउ रिस''''''* इति। (क) *'रिस तजिअ मुनीसा'* का भाव कि मुनीश्वरोंको क्रोध न करना चाहिये। (ख) पूर्व जब श्रीरामजीने कहा था कि *'कहिअ बेगि जेहि बिधि रिस जाई। मुनिनायक सोइ करौं उपाई।'* (२७९। ६) तब परशुरामजीने उत्तर दिया था कि *'''''''''राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे॥ येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा। तो मैं काह कोप करि कीन्हा॥'*— इसीका उत्तर श्रीरामजी यहाँ दे रहे हैं—*'रिस तजिअ''''''सीसा।'* (ग) *'आगे येह सीसा'* कथनका भाव कि वह शीश (लक्ष्मणजीका सिर) नहीं काटा, तो यह सिर काट लीजिये। तात्पर्य कि दोनों सिर एक ही हैं। श्रीरामजीके वचनसे यह उपदेश मिलता है कि चाहे अपना सिर कट जाय पर ब्राह्मणका क्रोध न रह जाय, जिस प्रकारसे उसका क्रोध जाय वही करे। पुनः भाव कि प्रथम यह शीश कट जाय तभी वह शीश कट सकता है। [(घ)

* तजहु—१७०४, को० रा०। † बालक—१६६१। लेखक-प्रमाद है।

मिलान कीजिये—'**अयं कण्ठः कुठारस्ते कुरु राम यथोचितम्।**' (हनु० ना० १। ३९) अर्थात् यह तो मेरा कण्ठ है और यह आपका कुठार है। जो उचित हो वह कीजिये।]

टिप्पणी—२ '***जेहि रिस जाइ*······**' इति। (क) '***जेहि***' अर्थात् '***जेहि बिधि***' जिस विधि या प्रकारसे। '***बिधि***' शब्द पूर्व कह आये—'***कहिअ बेगि जेहि बिधि रिस जाई।***' (२७९। ६) इसीसे यहाँ '***बिधि***' शब्द न कहा, वहाँसे विधि शब्दका अनुवर्तन है। श्रीरामजीने पूर्व परशुरामजीसे उपाय करनेको पूछा, यथा—'***मुनिनायक सोइ करौं उपाई।***' (२७९। ६) उन्हें उपाय करनेको नहीं कहा था परंतु वे अपने-आप ही उपाय करनेको कहते हैं, यथा—'***येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा।***······।' तात्पर्य कि इसका सिर काटनेसे ही क्रोध शान्त होगा अन्यथा नहीं। इसीपर श्रीरामजी कहते हैं—'***जेहि रिस***······'। तात्पर्य कि यदि सिर काटनेसे ही रिस जायगी तो सिर ही काट लीजिये, मुझे उसमें भी कोई उज्र नहीं है। (ख) '***करिअ सोइ स्वामी***' कहकर '***जानिअ आपन अनुगामी***' कहनेका भाव कि स्वामी-सेवक-भावसे जो चाहें सो करें। यथा—'***कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं। मो पर करिअ दासकी नाईं॥***' (२७९। ५) जैसे स्वामी दासको दंड देता है वैसे ही आप भी करिये। तात्पर्य कि वीर-भावसे सिर न काटिये, ब्राह्मण चाहे सिर भी काट ले तो हमें कोई उज्र न होगा।

टिप्पणी—३ '***प्रभुहि सेवकहि समरु कस***······' इति। (क) परशुरामजीने जो कहा था कि '***छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही***' उसीका उत्तर यह दिया कि स्वामी-सेवकका समर कैसा? तात्पर्य कि यह बात ही हमारी समझमें नहीं आती, (हम नहीं जानते कि स्वामी-सेवकका समर भी कभी हो सकता है और कैसा होता है) (ख) '***तजहु बिप्रबर रोष***' अर्थात् ब्राह्मणको रोष न रखना चाहिये। पहले जब रिस तजनेको कहा तब 'मुनीस' सम्बोधन किया—'***रिस तजिअ मुनीसा।***' और यहाँ रोष त्याग करनेमें विप्रवर कहा। इससे जनाया कि रोषके त्यागसे बड़ाई (बड़प्पन) होती है, जो रोषका त्याग करे वही मुनीश है और वही विप्रवर है, जो बड़े हैं वे रोषका त्याग करते हैं। (ग) '***बेष बिलोके कहेसि कछु***' अर्थात् फरसा और धनुष-बाण धारण किये देख वीर समझकर कुछ कह दिया, (भाव यह कि 'कुछ' किंचित्-मात्र कहा, अधिक नहीं कहा), यथा—'***देखि कुठारु सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना॥***' (२७३। ४) (यह स्वयं लक्ष्मणजीने कहा है) वेष देखकर ही कुछ कह दिया इससे बालकका कोई दोष नहीं है, तात्पर्य कि बिना जानेका अपराध क्षमा कीजिये। (घ) '***बालकहू***' का भाव कि हमें तो दोष है ही नहीं, यथा—'***छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू।***' (२७२। ३) और लक्ष्मणजीका भी दोष नहीं है क्योंकि वेष देखकर उन्होंने कुछ कहा। तात्पर्य कि सारा दोष तुम्हारा ही है कि ब्राह्मण होकर क्षत्रियका बाना धारण किये हुए हो। (ङ) '***कछु***' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है—'***कछु कहेसि***' और '***नहिं कछु दोष।***' कुछ ही कहा उसका कुछ भी दोष नहीं है।

देखि कुठारु बान धनु धारी। भै लरिकहि रिस बीरु बिचारी॥ १॥
नाम जान पै तुम्हहि न चीन्हा। बंश सुभाय उतरु तेंहि दीन्हा॥ २॥
जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥ ३॥

अर्थ—कुठार और धनुष-बाणधारी देखकर वीर समझकर लड़केको क्रोध हो आया॥ १॥ नाम जानता था पर आपको पहचाना नहीं (इसीसे) वंश-स्वभावके अनुसार उसने उत्तर दिया॥ २॥ यदि आप मुनिकी तरह (अर्थात् कुठार और धनुष-बाण उतारकर कोपीन आदि मुनिवस्त्र धारण किये हुए) आते तो, हे गोसाईं! (यह) बच्चा आपके चरणोंकी धूलि सिरपर धारण करता॥ ३॥

टिप्पणी—१ '***देखि कुठारु***······' इति। (क) अर्थात् प्रचारना न सह सका। यह क्षत्रियका धर्म है। यदि प्रचारना सुनकर क्षत्रिय भय खा जाय, उसे रोष न हो किंतु प्राणोंका लोभ हो, तो कुलको कलंक लगता है। यथा—'***क्षत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुलकलंकु तेहि पावँर आना॥***' (२८४। ३) (ख) '***भै लरिकहि रिस***' अर्थात् कुठारादि धारण किये देख वीर समझकर लड़केको भय न हुआ, किंतु रोष हुआ

यह कुलका स्वभाव है, यथा—*'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।'* (२८४। ४) रोष हो आनेसे उसने उत्तर दिया (जैसा आगे कहते हैं)। (ग) वेष देखकर अनुचित कहा है, इसीसे लक्ष्मणजीने भी यही बात कहकर अपराध क्षमा करनेको कहा था। यथा—*'ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥ जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर···॥'* (२७३) और श्रीरामजी भी यही बात कहकर लक्ष्मणजीका अपराध क्षमा कराते हैं—*'देखि कुठारु'* से *'छमहु चूक अनजानत केरी।'* तक। (*'बीर बिचारी'* पदसे वीरत्वका बाध होकर ब्राह्मण मुनि होनेका व्यङ्ग है। वंशस्वभावकथनमें 'स्वभावोक्ति' है)।

टिप्पणी—२ *'नामु जान·······'* इति। (क) अर्थात् रघुवंशी वीरका प्रचार नहीं सह सकते। (ख) *'तुम्हहि न चीन्हा'* का हेतु पहले ही कह चुके, कि आप कुठार, बाण और धनुष धारण किये हैं। नाम जानता है अर्थात् नाम जगत्‌में प्रसिद्ध है इससे नाम जानता है, पर आपको कभी पहले देखा नहीं था, आज ही प्रथम देखा, इसीसे पहचाना नहीं। (जानते थे कि महर्षि जमदग्निके पुत्र हैं, अतएव ऋषि-मुनि होंगे। आपका वेष मुनियोंका-सा न देख समझा कि कोई वीर है) (ग) *'बंश सुभाय उतरु·······'* यह परशुरामजीके *'बंधु कहै कटु संमत तोरे'* का उत्तर है। भाव कि हमारे सम्मतसे कटु वचन नहीं कहे किंतु वंशस्वभावसे कटु कहा। (घ) यहाँतक तीनों प्रकारसे लक्ष्मणजीको निर्दोष ठहराया। बालकने जो कुछ कहा वह कुछ दोष नहीं, क्योंकि *'बेष बिलोके कहेसि कछु'* जो क्रोध किया उसमें भी दोष नहीं, क्योंकि वीर समझकर ही उसने ऐसा किया—*'भै लरिकहि रिस बीर बिचारी'* और जो उसने उत्तर दिया इसमें भी दोष नहीं, क्योंकि वंशस्वभावसे उत्तर दिया। (ङ) दोहेमें जो कहा था कि *'बेष बिलोके कहेसि कछु'* उसके *'कछु'* का अर्थ *'बंश सुभाय उतरु तेंहि दीन्हा'* में खोला। *'कछु'* कहा अर्थात् उत्तर दिया।

टिप्पणी—३ *'जौं तुम्ह औतेहु·······'* इति। *'मुनि की नाईं'* अर्थात् मुनिवेषमें। (ख) *'पदरज सिर·······गोसाईं'* इति। पदरज शिरोधार्य करनेके सम्बन्धसे *'गोसाईं'* सम्बोधन दिया। *'गोसाईं'* बड़ेको कहते हैं। इस सम्बोधनसे जनाया कि जैसे बड़ेका आदर करना चाहिये वैसा करता। [बड़ोंका पदरज सिरपर धारण किया जाता है, यथा—*'बहु बिधि कीन्हि गाधिसुत पूजा। नाथ मोहि सम धन्य न दूजा॥ कीन्हि प्रसंसा भूपति भूरी। रानिन्ह सहित लीन्हि पग धूरी।·······'* (१। ३५२) *'जनक गहे कौसिक पद जाई। चरनु रेनु सिर नयनन्ह लाई।'* (१। ३४३) वैसे ही यह लड़का धारण करता] (ग) ☞*'ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥ जो बिलोकि अनुचित कहेउँ·······।'* (२७३) *'भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहौं रिस रोकी॥'* (२७३। ५) यह जो बातें लक्ष्मणजीने अपने मुखसे कही हैं, वही बातें श्रीरामजी कह रहे हैं—*'देखि कुठारु·······। भै लरिकहि रिस·······' 'जौं तुम्ह·······मुनि की नाईं।'* वही बात दुहरानेमें तात्पर्य यह है कि लक्ष्मणजीने जो कहा था वह परशुरामजीको चिढ़ानेके लिये नहीं कहा था, यथार्थ ही कहा था, इसीसे श्रीरामजी उनकी बातको पुष्ट करते हैं—वेष देखकर 'वचनसे' अनुचित कहा। वेष ही देखकर क्रोध हुआ, क्रोध होना 'मन' का धर्म है। और *'जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं।·······'* सिरपर धरना यह तनका कर्म है। वीर जानकर पदरज शिरोधार्य न किया। जैसा वीरके साथ करना चाहिये, लड़केने वैसा ही तो किया (इसमें अनुचित क्या? मुनिकी तरह आते तो जैसा मुनिके साथ करना चाहिये, वैसा न करता तब अनुचित था तभी वह दोषी होता)।

छमहु चूक अनजानत केरी। चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी॥ ४॥
हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥ ५॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा*॥ ६॥

शब्दार्थ—**सरिबरि** [हिं० सरि+प्रा० पड़ि, बड़ि]=बराबरी, समता। इस शब्दका प्रयोग प्रान्तिक है, यह केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है।

अर्थ—अनजानेकी चूक (अर्थात् अनजानेमें जो उत्तर दिये हैं उनको) क्षमा कीजिये। ब्राह्मणके

* तुम्हारा—पाठान्तर। ये दोनों चरण १७०४ में नहीं हैं।

हृदयमें तो बहुत अधिक कृपा होनी चाहिये॥ ४॥ हे नाथ! हमसे-आपसे बराबरी कैसे? कहिये न! कहाँ तो चरण और कहाँ मस्तक?॥ ५॥ कहाँ तो हमारा 'राम' मात्र छोटा-सा नाम और कहाँ आपका 'परशु' सहित ('परशुराम') बड़ा नाम! (कहिअ न? इनमें कहाँ बराबरी है?)॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'छमहु चूक……'*** इति। (क) प्रथम तो यह कहा कि ***'बेष बिलोके कहेसि कछु बालकहू नहि दोसु'*** और अब कहते हैं कि अनजानेकी चूक क्षमा कीजिये। ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं? समाधान—वेष देखकर जो कहा वह क्षत्रियधर्म होनेके कारण दोष नहीं है, उनको क्षमा नहीं कराते। किसी तरह भी ब्राह्मणको कटु वचन कहना दोष है। इसी दोषको बिना चीन्हे अनजानमें किया हुआ कहकर, क्षमा कराते हैं। अनजानमें की हुई चूक क्षम्य है, यथा—***'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता।'*** (२८५) (ख) ***'चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी'*** इति। बिना कृपाके क्षमा नहीं होती और परशुरामजी कह चुके हैं कि मेरे हृदयमें कृपा कभी भी नहीं होती, यथा—***'मोरे हृदय कृपा कसि काऊ।'*** (२८०। २) अतः श्रीरामजी कहते हैं कि विप्रके हृदयमें तो बहुत कृपा होती है जिससे वे बड़े-बड़े अपराध क्षमा कर देते हैं, आपके हृदयमें भी वैसी ही बहुत कृपा होनी चाहिये, यह अपराध तो बहुत लघु है, इसके क्षमामें तो कुछ भी देर न चाहिये। (ग) यहाँतक लक्ष्मणजीके अपराध क्षमाके सम्बन्धमें कहा, आगे अपना अपराध क्षमा कराते हैं।

टिप्पणी—२ ***'हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि……'*** इति। (क) भाव यह कि आपके चरणोंमें हम अपना मस्तक धरते हैं तब बराबरी कहाँ रही? परशुरामजीने जो कहा था कि ***'नाहिं त छाड़ कहाउब रामा।'*** (२८१। २) उसीका यह उत्तर है। (ख) ***'हमहि तुम्हहि'*** का भाव कि हम सेवक हैं और आप नाथ हैं। सेवक और स्वामीकी बराबरी नहीं होती, तब हमारी और आपकी बराबरी कैसे हो सकती है? (ग) ***'सरिबरि'*** इति। परशुरामजीने जो कहा कि 'राम' कहाना छोड़ दो उसका भाव यही है कि तुमने हमारे बराबरीका नाम रखा है अतः इसे छोड़ दो, इसीका संकेत यहाँ ***'सरिबरि'*** शब्दसे करते हैं। पुनः, ***'सरिबरि कसि'*** का भाव कि आप ब्राह्मण हैं, हम क्षत्रिय हैं। हम नहीं जानते कि ब्राह्मणसे बराबरी करना कैसी होती है, ब्राह्मणसे तो हमारी कोई बराबरी नहीं है, इसीपर आगे प्रमाण देते हैं—***'कहहु न कहाँ……।'*** (घ) ***'कहहु न'*** का सम्बन्ध सब जगह है। श्रीरामजी पूछते हैं—'कहिये न' कहाँ चरण है, कहाँ माथा है, दोनोंमें कहाँ बराबरी है? ***'कहाँ चरन कहँ माथा'*** कहकर दोनोंमें बड़ा अन्तर दिखाया।

नोट—१ ***'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा'*** के और भाव ये हैं—'आप सिरके देवता हैं, हम चरणके' यह गूढ़त्व है, इसमें लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है, और प्रत्यक्ष यह कि आप मस्तकके स्थान और हम क्षत्रिय पैरके स्थानमें हैं अर्थात् आप ऊँचे हैं और हम नीचे, आप उत्तमाङ्ग, हम अधमाङ्ग—ये विनीत वचन हैं। (पाँड़ेजी) पुनः, इसमें गूढ़त्व यह है कि आप मस्तक पुजानेवाले (ब्राह्मण जब संन्यास लेते हैं तब उनके मस्तककी पूजा होती है) और हम चरण पुजानेवाले हैं (भगवान्‌के चरणकमलोंकी पूजा होती है। इससे अपनेको अवतार सूचित किया)।

नोट—२ हनु० ना० में इससे मिलता श्लोक यह है—**'भो ब्रह्मन् भवता समं न घटते संग्रामवार्ताऽपि नो सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि……'**(१। ४०) अर्थात् हे ब्राह्मण भगवान्! आपके साथ तो हमारी संग्रामकी वार्ता भी नहीं घटती, क्योंकि हम सब निर्बल हैं और आप तो बलवानोंके सिरपर स्थित हैं।

टिप्पणी—३ ***'राम मात्र……'*** इति। (क) ***'राम मात्र'*** अर्थात् हमारे नाममें कुछ मिला नहीं है, केवल दो अक्षर हैं। ☞***'राम मात्र'*** पदसे नामजापकोंको श्रीरामजीके मुखारविन्दसे उपदेश हो रहा है कि हमारा दो अक्षरका मन्त्र है, इसमें और कुछ न मिलावें। (ख)—***'लघु'*** कहकर सूचित किया कि मन्त्र जितना ही छोटा होता है, उतना ही उसका प्रभाव अधिक होता है। यथा—***'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्व।'*** (२५६) (ग) ***'हमारा'*** (बहुवचन) कहनेका भाव कि इस मन्त्रपर हमारा बड़ा ममत्व है, इसीसे 'राम' नाम सब नामोंसे अधिक है, यथा—***'राम सकल नामन्ह ते अधिका।'*** (३। ४२) [पुनः भाव

कि हमें यह दो अक्षरका ही नाम प्रिय है और जो इसे जपते हैं वे भी हमें प्रिय हैं। पुनः, इसमें समस्त योगी लोग रमते हैं और आपका पाँच अक्षरका नाम है सो उसमें केवल फरसा ही रमा है। यह व्यङ्गोक्ति सरस्वतीकी है, श्रीरामवाक्य तो सरल ही है।] (घ) *'हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा……'* यह रूपका वर्णन है। रूप कहकर तब नाम कहा, क्योंकि रूपका नाम होता है। रूपमें गुण भी होता है, इसीसे प्रथम रूप कहकर पीछे नाम और गुण कहा।

देव एकु गुनु धनुष हमारे। नव गुन परम पुनीत तुम्हारे॥ ७॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे॥ ८॥
दो०—बार बार मुनि बिप्रबर कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हसि* तहूँ बंधु सम बाम॥ २८२॥

शब्दार्थ—**हसि**=है, यथा—*'जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई।……'* (२। १६२। ८)। **तहूँ**=तू भी।

अर्थ—हे देव! हमारे तो एक ही गुण धनुष है और आपके परम पवित्र नौ गुण हैं॥ ७॥ हम सब प्रकारसे आपसे हारे हैं। हे विप्र! हमारे अपराधोंको क्षमा कीजिये॥ ८॥ श्रीरामचन्द्रजीने परशुरामजीसे बार-बार 'मुनि' और 'विप्रवर' कहा (अर्थात् एक बार भी उनको वीर न स्वीकार किया), तब भृगुपति (परशुरामजी) रुष्ट होकर बोले कि तू भी भाई-सरीखा टेढ़ा है॥ २८२॥

टिप्पणी—१ *'देव एकु गुनु धनुष……'* इति। गुणके तीन अर्थ हैं—गुण, रोदा, सूत्र। प्रथम अर्थके अनुसार भाव यह है कि हमारे एक गुण धनुर्विद्या है और आपके शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव (दूसरोंके सामने मनके अनुरूप ही बाहरी चेष्टा करनेका नाम 'आर्जव' है), ज्ञान, विज्ञान (परमार्थतत्त्वके विषयमें असाधारण विशेष ज्ञान) और आस्तिकता (सम्पूर्ण वैदिक सिद्धान्तकी सत्यताका दृढ़ अटल निश्चय) ये नौ गुण हैं। [यथा—'**शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥**' (गीता १८। ४२) दूसरे-तीसरे अर्थोंके अनुसार भाव होगा कि हे नाथ! हमारे धनुषमें एक गुण अर्थात् एक रोदा है और आपके यज्ञोपवीतमें नौ गुण अर्थात् नौ सूत्र हैं। यथा—'**कार्पासमुपवीतं स्याद् ब्राह्मणस्य त्रिवृत् त्रिवृत्……**' (गृह्यसूत्र। पूरा श्लोक और अर्थ २७३। ५ में आ चुका है)]

'परम पुनीत' कहनेका भाव कि यदि *'परम पुनीत'* न कहकर केवल *'पुनीत'* कहते तो क्षत्रियधर्म अपुनीत ठहरता, इससे *'परम पुनीत'* कहा। इस विशेषणसे दोनोंकी पवित्रता निश्चित हुई। क्षत्रियका गुण *'पुनीत'* है और ब्राह्मणके गुण *'परम पुनीत'* हैं। इसी तरह गुणके दूसरे-तीसरे अर्थोंके अनुसार रोदा पुनीत है और यज्ञोपवीत परम पुनीत है। यज्ञोपवीतके एक-एक सूत्रमें एक-एक देवता हैं। [यथा—'**ओंकारः प्रथमे सूत्रे द्वितीयेऽग्निः प्रकीर्तितः। तृतीये कश्यपश्चैव चतुर्थे सोम एव च॥ पञ्चमे पितृदेवाश्च षष्ठे चैव प्रजापतिः। सप्तमे वासुदेवः स्यादष्टमे रविरेव च॥ नवमे सर्वदेवास्तु इत्यादि संयोगात्।**' (मा० त० वि० से उद्धृत)]

इस तरह श्रीरामजी परशुरामजीको सूचित कराते हैं कि धनुर्विद्या हमारा गुण है, यह तुम्हें न धारण करना चाहिये; जो आपके (ब्राह्मणोंके) परम पुनीत नौ गुण हैं, आप उन्हींको धारण करें। आपने पर-धर्म ग्रहणकर पाप किया, आप उसे त्याग दें; क्योंकि '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।**' (गीता) परशुरामजीने श्रीरामजीको 'राम' नामका त्याग करनेको कहा; और श्रीरामजीने उनको धनुष त्याग करनेको कहा, पर स्पष्ट न कहकर वचनके ध्वन्यात्मक आशयद्वारा ही कहा, स्पष्ट कहनेसे कठोरता सिद्ध होती।

मुं० रोशनलाल—भाव यह कि 'हमारे धनुषमें एक गुण सो भी परम अपुनीत है क्योंकि हिंसक है और आपमें तप आदि नौ गुण परम पुनीत हैं। अपना गुण न कहकर एक गुण कहा सो भी धनुषका; भाव यह कि हमारे इस विद्यमान धनुषपर आपको दृष्टि न करके अपना धर्म-कर्मादिक पालना उचित है।'

---

* हँसि—१७२१, १७६२ छ० होइ—१७०४, को० रा०। हसि—१६६१।

मानसतत्त्व-विवरण—(१) *'तुम्हारे'* पदके साथ *'धनुष'* पदका अध्याहार है जो परशुरामजीके शरीरसे हेतु है, यथा—'प्रसन्नराघवे—'**मौर्वी धनुस्तनुरियं च बिभर्ति मौञ्जीं बाणाः कुशाश्च विलसन्ति करे सितायाः। धारोज्ज्वलः परशुरेष कमण्डलुश्च तद्वीरशान्तरसयोः किमयं विकारः॥**' और यह चौपाई हनुमन्नाटकवत् है—'**भो ब्रह्मन्भवता समं न घटते संग्रामवार्ताऽपि नो सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि। यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमूर्वीभुजामस्माकं भवतो यतो नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्॥**' (अङ्क १ श्लोक ४०) भाव कि यदि मेरे धनुष धारणपर आपकी दृष्टि हो, निःक्षत्रियत्व करनेके संकल्पसे, तो अब उस मेरे धनुषमें भी एक ही गुण है जिसपर रखकर बाण चलाया जाता है और आपका ब्राह्मणशरीररूप धनुष है, वह तो परम पुनीत अर्थात् यज्ञोपवीत रूप नवगुणका है—'**यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्**' इत्यादि। भाव यह कि जैसे चिल्लेपर रखकर बाण चलाया जाता है, वैसे ही यज्ञोपवीत हाथमें जलसहित लेकर संकल्पपूर्वक शापादिव्यवहार होता है, उसमें नौ गुण हैं। जिनमें नौ देवता हैं; इससे वह अधिक समर्थ भी है।

(२) एक परिणामी गुणवाला अर्थात् बराबर बदलनेवाला होता है और नवदुगुण इत्यादिमें नव गुन वही रहता है, अतः अपरिणामी है। भाव यह कि हमारा क्षत्रियत्व चिह्न अपरिणामी है; अतः मुझमें युद्धकी योग्यता कहाँ?' [एकसे नीचे कोई अङ्क नहीं है और नवसे ऊपर नहीं। नवका गुणा नव ही रहेगा अर्थात् नवसे गुणित अङ्क जोड़नेसे नव ही होते जाते हैं, देखो ९ के पहाड़ेमें।] पुनः, (३)—ब्राह्मणके नव गुण यथा—'**ऋजुस्तपस्वी संतुष्टः शुचिर्दान्तो जितेन्द्रियः। दाता विद्वान् दयालुश्च ब्राह्मणो नवभिर्गुणैः॥**'

पं० रा० च० मिश्र—दूसरा गुप्तार्थ यह कि 'तुम्हारे पास एक गुणवाला हमारा शार्ङ्ग धनुष है सो हमें देव (दो) और हमारे पास जो परम पुनीत नौ गुण हैं, उन्हें लो।' आगे इसी वाक्यको मानकर विष्णुका धनुष देंगे और स्तुतिमें 'नव' बार जय बोल 'नव गुणोंको स्वीकृतकर राममें क्षत्रित्व लय करेंगे और ब्रह्मत्व स्वीकारकर चले जावेंगे।'

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—*'नव गुन परम पुनीत तुम्हारे'* इति। तुम्हारे अर्थात् ब्राह्मणोंके। वास्तवमें आपका सच्चा और परम प्रतापशील परम पावन धनुष तो वह है जिसमें परम पुनीत नौ गुण होते हैं। वह है यज्ञोपवीत लक्षणासे। श्रौतस्मार्तब्रह्मकर्मानुष्ठानजनित तपोबल ब्रह्मतेज। '**यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्।**' '**श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानसिद्ध्यर्थं यज्ञोपवीतधारणम्।**' '**धिग् बलं क्षत्रियबलम्। ब्रह्मतेजो बलं बलम्॥**' ब्राह्मणका बल रणाङ्गणमें रक्तपात करनेमें नहीं। इसीसे लक्ष्मणजीने पहले ही कहा है कि *'कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥'* अन्यत्र भी कहा है—*'दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।'* पर यह दाहक तेज तब पैदा होता है जब *'करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजहि बस देवा॥'* बिना तपश्चर्याके ब्राह्मणका क्रोध '**भस्मनि हुतम्**' (राखके होम) के समान ज्वाला नहीं पैदा कर सकता। बिना तपोबलके क्रोधका फल *'रिस तनु जरइ'* *'दहै रिस छाती'* *'होइ बल हानी'* इत्यादि प्रकारसे आत्मघातकी और उपहासास्पद होता है।

ब्राह्मणके धनुषके ये नव गुण इसी प्रसङ्गमें तथा अन्यत्र इतस्ततः बिखरे हैं। यथा—(१) *'चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी'* में कृपाशीलता गुण, (२) *'तजहु बिप्र बर रोष'* में अक्रोधता, (३) *'धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई'* में स्वधर्मपालननिष्ठा, (४) *'सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना'* में वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन, (५) *'सोचिय बिप्र जो······तजि निज धर्म बिषय लय लीना'* में विषयवैराग्य, (६) *'कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा'* में तपोबलब्रह्मतेज, (७) *'नहिं संतोष त'* में संतोष, (८) *'बाल दोष गुन गनहिं न साधू'* में परदोषगुणपर दृष्टि न डालना, (९) *'गुरुहि उरिन होतेउँ श्रम थोरे'* *'माता पितहि उरिन भए नीके'* में ऋषि पितृदेव ऋणत्रयोंसे उद्धार होना, (१०) *'तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी'* में ज्ञान-विज्ञान, (११) *'छमहु बिप्र अपराध हमारे'* में क्षमा—इन ग्यारह गुणोंका अन्तर्भाव गीताके '**शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥**'(१८। ४२) इन नव गुणोंमें अनायास हो सकता है।

ब्राह्मणके यज्ञोपवीतमें एक अविच्छिन्न तन्तुके ही विशिष्ट प्रक्रियासे अखण्ड नवतन्तु बनने चाहिये। ये

नव तन्तु उपरिनिर्दिष्ट नवगुणोंके द्योतक हैं। ब्रह्म कर्म एक अखण्ड तन्तु होना चाहिये और तपश्चर्यारूपी प्रक्रियासे इसी अखण्ड सूत्रसे शम-दमादि नवविध ऐश्वर्य प्राप्त कर लेना यह साध्य है।

शम-दमादि नवोंमेंसे भृगुपतिमेंसे आठ गुण कैसे नष्ट हो गये यह पहले यथामति बताया है। अब रहा एक आस्तिक्यका अभाव यह आगे *'खैंचहु मिटै मोर संदेहू'* में दिखायेंगे।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—*'देव एकु गुनु धनुष हमारे'* इति (हमारे अर्थात् क्षत्रियोंके। इस प्रसङ्गमें यद्यपि परशुरामजीने श्रीरामजीके लिये 'तू' 'तोर' आदि एकवचनका प्रयोग किया है, तथापि श्रीरघुनाथजी न तो परशुरामजीके लिये और न अपने ही लिये एकवचनका प्रयोग करते हैं। भरद्वाज-मिलनमें न एकवचनका प्रयोग है न बहुवचनका। वाल्मीकि-मिलनमें *'मो कहँ' 'मम पुन्य'* ऐसा एकवचन है। इधर परशुरामके साथ अपने लिये 'हमारा, हमरे, हमपर, हमारे' ऐसे बहुवचनके प्रयोग करते हैं और भृगुपतिको विप्र, मुनिनायक, विप्रबर कहते हैं। प्रसङ्गभरमें एक बार भी वे 'परशुराम' का उच्चारण नहीं करते (परशुराम नाम लेकर सम्बोधित नहीं किया)। इसमें हेतु इतना ही था कि वे शीघ्रातिशीघ्र सब मर्म समझ जायँ तथापि *'अजहुँ न बूझ।'*

पं० रामकुमारजी—यहाँ 'हमारे', 'तुम्हारे' कहनेका भाव यह है कि सबको अपना-अपना धर्म ग्रहण करना चाहिये। हमारा (क्षत्रियोंका) एक 'गुण' है, हम उसे धारण किये हैं और आपके (ब्राह्मणोंके) नव गुण हैं पर उन्हें आप छोड़े हुए हैं, आपमें उन सबोंका अभाव प्रत्यक्ष देख पड़ता है।

टिप्पणी—२ (क) *'सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे'* इति। यहाँ नाम, रूप और गुण तीन प्रकार कहे। *'राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा॥'* यह नाम है, *'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा'* यह रूप है और *'देव एक गुन……'* यह गुण है। लीला और धाममें परशुरामजी श्रीरामजीसे बड़े नहीं हैं, इसीसे इन दोको नहीं कहा। तीन ही प्रकार गिनाकर 'सब प्रकार' कहनेमें भाव यह है कि इनके अतिरिक्त और भी जितने प्रकार हों उन सब प्रकारोंसे भी हम हारे हैं। (ख) *'छमहु बिप्र अपराध हमारे'* इति। लक्ष्मणजीका अपराध 'अनजानेकी चूक' कहकर क्षमा कराते हैं और अपना अपराध अपनेको सब प्रकारसे हारा हुआ कहकर क्षमा कराते हैं। देखिये, परशुरामजीने नामकी बराबरी छोड़नेको कहा और श्रीरामजी बुद्धिद्वारा सब प्रकारसे अपनी लघुता दिखा रहे हैं।

टिप्पणी—३ *'बार बार मुनि बिप्रबर……'* इति। (क) 'मुनि' 'बिप्रबर' बार-बार कहा है यथा—*'राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा' 'जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं'* (पूर्व भी कहा है) *'मुनिनायक सोइ करौं उपाई।'* (२७९। ६) *'चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी' 'छमहु बिप्र अपराध हमारे'* और *'तजहु बिप्रबर रोसु।'* सब जगह 'मुनिवर' 'विप्रवर' नहीं कहा, पर दोहेसे जना दिया कि सब जगह 'मुनिवर' 'विप्रवर' कहा है। अतः सब जगह अर्थमें मुनिवर, विप्रवर लगा लेना चाहिये। श्रीरामजीने 'मुनिवर, विप्रवर' सम्बोधन आदरार्थ किया, पर परशुरामजीने उसे निरादर मान लिया, इसीसे रुष्ट हुए। (ख) *'बोले भृगुपति सरुष हसि……'* इति। **सरुष**=रोषसहित, कुपित होकर, क्रोधपूर्वक। यथा—*'सरुष समीप देखि कैकेई।'* (२। ४०। २) 'हसि' का अर्थ यहाँ 'हँसकर' नहीं है। (ग) *'तहूँ बंधु सम बाम'* अर्थात् जैसे तेरा भाई 'मुनि' और 'विप्र' कहता है, वैसे ही तू भी कहता है। जैसे तेरे भाईने कहा कि *'व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥ जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर।'* (२७३) वैसे ही तूने कहा *'देखि कुठार बान धनुधारी।……'* इत्यादि।

निपटहि द्विज करि जानहि मोही। मैं जस बिप्र सुनावौं तोही॥ १॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोपु मोर अति घोर कृसानू॥ २॥
समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भये पशु आई॥ ३॥
मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हे। समरजग्य जप कोटिन्ह कीन्हे॥ ४॥

शब्दार्थ—**निपटहि**=निपट ही। **निपट**=निरा, कोरा, एकमात्र, नितान्त। **स्त्रुवा**=खैर (कत्था) या आम आदिकी लकड़ी, बड़ा चमचा जिससे यज्ञमें आहुति दी जाती है। **आहुति**=होमद्रव्य, हवनमें डालनेकी सामग्री। **समिधि**=होममें जलायी जानेवाली लकड़ी। **चतुरंग**=(चतु: अङ्ग) चार अङ्गवाली=चतुरंगिणी जिसमें संख्यानुसार हाथी, घोड़े, रथ और पैदल होते हैं। **पशु**=बलिमें दिया जानेवाला पशु। बलि देना=देवताकी भेंटमें देना, चढ़ाना।

अर्थ—तू मुझे निरा ब्राह्मण ही जानता है। मैं जैसा ब्राह्मण हूँ, तुझे सुनाता हूँ॥ १॥ धनुषको स्त्रुवा, बाणको आहुति और मेरे कोपको अत्यंत भयंकर अग्नि जानो॥ २॥ सुन्दर चतुरंगिणी सेना समिधाएँ हैं। बड़े-बड़े राजा आकर (उस यज्ञके) बलिपशु हुए॥ ३॥ मैंने इसी फरसेसे काट-काटकर बलिदान दिये। इस तरहके *'समरजग्य जप'* मैंने करोड़ों (अगणित) किये॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'निपटहि द्विज करि·······'* इति। (क) *'द्विज करि'* ब्राह्मण करके अर्थात् वीर करके नहीं जानता। 'निरा ब्राह्मण ही करके जानते हो' इस कथनमें भाव यह है कि तू हमें *'बिप्र बिप्र'* कहकर हमारा अपमान करता है इसका कारण यह है कि तू हमारा प्रभाव नहीं जानता, यदि हमारा कुछ भी प्रभाव जानता तो इस प्रकार निरादर करता हुआ न बोलता। (ख) यहाँ *'निपटहि द्विज'* से साधारण ब्राह्मण सूचित होता है जिसके लक्षण ये हैं—**'एकाहारेण सन्तुष्टः षट्कर्म निरतः सदा। ऋतुकालाभिगामी च स विप्रो द्विज उच्यते॥'** परशुरामजी इन्हीं ऊपर कहे हुए गुणोंको चाप स्त्रुवादि रूपकसे क्षत्रियकर्मकर्ता द्विज सूचित करते हैं। (वि० टी०)] (ग)—*'मैं जस बिप्र'*—भाव कि जैसा तुम जानते और कहते हो वैसा ब्राह्मण मैं नहीं हूँ। (घ) *'सुनावौं तोही'* अर्थात् जैसा हूँ वैसा सुनाता हूँ। प्रभाव सुनानेका भाव यह है कि मेरा प्रभाव तुम्हें विदित नहीं है, इसीसे मुझे *'निपटहि द्विज करि'* जाना, अत: मैं प्रभाव सुनाता हूँ। (ङ) श्रीरामजीने परशुरामजीको विप्र कहा, उनकी वीरता कुछ भी न कही, इसीसे वे अपने मुखसे अपनी वीरता कहने लगे। यद्यपि लक्ष्मणजीने यह बात दरसा दी है कि अपने मुखसे अपना गुण कहना दोष है, यथा—*'अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥'* (२७४। ६) तथापि अभिमानके कारण यह बात उनके मनमें न आयी, वे यह सुनकर भी लज्जित न हुए, इसीसे पुन: अपनी करनी कहने लगे।

टिप्पणी—२ *'चाप स्त्रुवा·······'* इति। (क) यहाँ यज्ञ और समरयज्ञका साङ्गरूपक है। चाप स्त्रुवा है, स्त्रुवासे घृतकी आहुति दी जाती है। बाण घृतकी आहुति है। घृत पड़नेसे समिधा जल जाती है, इसी तरह बाणके लगनेसे सेना भस्म हो गयी। (ख) *'जानू'* कहनेका भाव कि तुम मेरे धनुष-बाणको एवं मेरे क्रोधको कुछ नहीं समझते, अत: मैं समझाता हूँ कि उन्हें ऐसा जानो। (ग) स्त्रुवा हाथमें रहती है और आहुति अग्निमें दी जाती है, इसी प्रकार धनुष हाथमें रहता है, बाण शत्रुपर जाता है। यह समता है। (घ)—*'कोपु मोर अति घोर कृसानू'* इति। यहाँ *'अति घोर'* दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगता है। कोप और कृशानु दोनों अत्यन्त घोर हैं। अग्निमें सब कुछ जल जाता है, इसी तरह मेरे घोर क्रोधमें सब राजसेना जल गयी। प्रथम जब अग्नि प्रज्वलित होती है तब आहुति दी जाती है, इसी प्रकार जब हमारे क्रोध होता है तब हम धनुष लेकर बाण मारते हैं। (ङ) कोपको *'अति घोर कृसानू'* रूपक दिया क्योंकि आहुति प्रज्वलित अग्निमें ही दी जाती है, मंदाग्निमें नहीं। पुन:, *'अति घोर'* कहनेका भाव कि जैसे लकड़ी अधिक हुई तो अग्नि घोर होती है, इसी प्रकार जैसे-जैसे सेना अधिक आती थी वैसे-ही-वैसे हमारा क्रोध अधिक होता था।

टिप्पणी—३ *'समिधि सेन चतुरंग सुहाई।·······'* इति। (क) जैसे हवनमें समिधाएँ बहुत लगती हैं, वैसे ही चतुरंगिणी सेना बहुत रहती थी। सेनाको *'सुहाई'* कहकर जनाया कि सेना अपार रही, सामान्य नहीं थी। पुन: *'सुहाई'* विशेषण देकर अपनी वीरता सूचित करते हैं क्योंकि बहुत भारी सेना वीरको ही *'सुहाई'* लगती है, कादरको नहीं। वीरका उससे उत्साह बढ़ता है और कादर डरता है। सुन्दर सेना सुन्दर समिधा है अर्थात् सूखी है, पवित्र है और यज्ञके योग्य है। समिधा जलती है, सेना मरती है—यह दोनोंमें समता है। (ख) *'महा महीप'* (सहस्त्रार्जुन ऐसे बड़े-बड़े राजा) कहकर भारी यज्ञ जनाया, क्योंकि

भारी यज्ञमें महापशु मारे जाते हैं। *'भये पशु आई'* अर्थात् बहुत बड़े राजा बड़ी-बड़ी चतुरंगिणी सेना ले-लेकर हमारे ऊपर चढ़ आया करते थे, हम सबोंको सेनासमेत मार-काट डालते थे। अतः *'आई'* कहा। *'सुहाई'* कहकर सेनाकी बड़ाई की और *'महा महीप'* कहकर राजाओंकी बड़ाई की। भाव यह है कि यह न समझ लेना कि सामान्य राजाओंको मारकर मैं डींग हाँकता हूँ। राजा भी भारी यशस्वी तेजस्वी वीर थे और उनकी सेना भी। पहले सेना जूझती है तब राजा, इसीसे पहले सेनाको कहकर तब राजाको कहा। हवनके पीछे बलिपशु काटा जाता है।

टिप्पणी—४ *'मैं येहि परसु······'* इति। (क) *'येहि परसु'* से सूचित होता है कि श्रीरामजीको फरसा दिखाकर ये वचन कह रहे हैं जिसमें वे डर जायँ। जैसे लक्ष्मणजीको फरसा दिखाकर और अपना प्रभाव कहकर डरवाते थे। यथा—*'भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महि देवन्ह दीन्ही॥ सहसबाहु भुज छेदनिहारा। परसु बिलोकु महीप कुमारा॥'* (२७२। ७-८) वैसे ही यहाँ पहले अपना प्रभाव *'चाप स्रुवा······आई'* कहकर तब परशु दिखाकर डरवाते हैं। (ख) बलिपशु छुरेसे काटा जाता है, यथा—*'कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥'* (२। २२। १) इसीसे राजाओंको परशुसे काटना कहा। (ग) समरको यज्ञ कहा क्योंकि जैसे यज्ञसे स्वर्ग मिलता है वैसे ही समर-(में मरण-) से भी स्वर्ग होता है। [*'समरजग्य जप'* का भाव यह है कि जैसे, मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ आहुति दी जाती है, उसी प्रकार मैंने पुकार-पुकारकर राजाओंकी बलि दी है। (मानसाङ्क)] (घ) *'कोटिन्ह कीन्हे'* का भाव कि एक यज्ञ करनेवाला तो कोई दिखायी नहीं देता और मैंने ऐसे अगणित यज्ञ कर डाले हैं। *'कोटिन्ह'* बहुतका वाचक है, यथा—*'कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥'* (२। २०) *'कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा। राम बिलोकहिं गंग तरंगा॥'* (२। ८७) (ङ) *'कीन्हें'* अर्थात् हम ऐसे यज्ञ करनेवाले हैं, यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण नहीं है।

नोट—१ परशुरामजीने पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया तब रघुवंशी और निमिवंशी कहाँसे आ गये? इसका समाधान (दो० २७६। ३-४ में) भी किया गया है। श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीने बताया है कि जब परशुरामजी पृथ्वीको क्षत्रियविहीन कर रहे थे उस समय अश्मकके पुत्र मूलकका जन्म हुआ था। स्त्रियोंने उसे छिपाकर रख लिया था। इसीसे उसका नाम नारी *'नारी कवच'* भी हुआ। पृथ्वीके क्षत्रियहीन हो जानेपर वह इस वंशका मूल (प्रवर्तक) बना, इसीसे उसका नाम 'मूलक' हुआ। 'मूलक' के एक पुत्रका नाम दशरथ था, पर यह दशरथ श्रीरामजीके पिता नहीं हैं। उन दशरथके पुत्रका नाम ऐडविड था। इनकी चार-पाँच पीढ़ीके बाद 'रघु' महाराज हुए। 'रघु' के अज और अजके महाराज दशरथ हुए जिनके यहाँ श्रीरामजीका अंशोंसहित अवतार हुआ। यथा—**'अश्मकान्मूलको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः, नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत्॥ ततो दशरथस्तस्मात् पुत्र ऐडविडस्ततः।'········, '······अजस्ततो महाराजस्तस्माद् दशरथोऽभवत्। तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः। अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः॥······।'** (स्कन्ध ९ अ० ९-१०। ४०-४१, १-२)

पद्मपुराण उत्तरखण्डमें परशुरामजीने स्वयं श्रीरामजीसे कहा है कि इक्ष्वाकुवंशके क्षत्रिय मेरे नानाके कुलमें उत्पन्न हुए हैं, इससे वे मेरे वध्य नहीं है, तथापि किसी भी क्षत्रियका बल और पराक्रम सुनकर मैं सहन नहीं कर सकता। यथा—**'इक्ष्वाकवो न वध्या मे मातामहकुलोद्भवाः। वीर्यं क्षत्रबलं श्रुत्वा न शक्यं सहितुं मम॥** (अ० २४२। १५९) रघुवंशी और निमिवंशी दोनों ही इक्ष्वाकुवंशीय हैं अतः ये दोनों कुल बच गये।

मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें। बोलसि निदरि बिप्र के भोरें॥ ५॥
भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहु जीति जगु ठाढ़ा॥ ६॥

शब्दार्थ—**तोरें**=तुझे, तुझको। **भोरें**=धोखेमें, भुलावेमें। **दापु**=घमण्ड। यह 'दर्प' का अपभ्रंश है=अभिमान। यथा—*'मैं केहि हेतु करौं अभिमाना'* ॥ ८॥

अर्थ—मेरा प्रभाव तुझे मालूम नहीं? ब्राह्मणके धोखेसे निरादर करता हुआ बोलता है॥ ५॥ 'चाप' को तोड़ा है। इसीसे घमण्ड बहुत बढ़ गया है। ('मैं ही तो हूँ') ऐसा अहंकार है मानो संसारको जीतकर खड़ा हुआ है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'मोर प्रभाउ'''''* इति। (क) तात्पर्य कि बिना प्रभाव जाने शंका (भय) नहीं होती, यथा—*'की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही॥'* (५। २१) परशुरामजी श्रीरामजीसे पूछते हैं कि क्या मेरा प्रभाव तुझे मालूम नहीं है? अर्थात् हमने जगत् भरके क्षत्रियोंका नाश कर डाला, यह हमारा प्रभाव क्या कभी कानोंसे सुना नहीं? ब्राह्मणके धोखे निरादरपूर्वक बोलता है, अर्थात् किंचित् शंकित-हृदय नहीं होता। श्रीरामजीने जो कहा है कि *'बेष बिलोके कहेसि कछु बालकहू नहिं दोषु'* *'देखि कुठार बान धनुधारी। भै लरिकहि रिस बीर बिचारी॥'* *'जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं।'''''* इन्हींको परशुरामजी निरादर मानते हैं। तात्पर्य कि हमारे कुठार, धनुष और बाणको कुछ नहीं समझते तभी तो कहते हैं कि इनको देखकर लड़केको रिस हुई। इसीसे परशुरामजीने धनुष, बाण और कुठार (परशु) तीनोंकी बड़ाई की। यथा—*'चाप स्रुवा सर आहुति जानू।'''''''* इत्यादि।

टिप्पणी—२ *'भंजेउ चापु'''''* इति। (क) यहाँ परशुरामजी चापकी लघुता कहते अर्थात् यह कहते कि पुराना (जीर्ण) धनुष तोड़कर अहंकार बढ़ गया है, पर ऐसा उन्होंने नहीं कहा; क्योंकि (प्रथम लक्ष्मणजीसे इसीपर बिगड़ चुके हैं, अपने मुखसे) उसकी बड़ाई कर चुके हैं (उसके लिये *'पिनाक'*, *'त्रिपुरारिधनु'*, *'संभु सरासन'* इत्यादि बड़े-बड़े शब्दोंका प्रयोग कर चुके हैं) यथा—*'सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा'*, *'धनुही सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार।'* (२७१) *'संभुसरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोधु।'* (२८०) (अतः क्या करते? अब उसे 'लघु' कैसे कहते? नहीं तो श्रीरामचन्द्रजीके बलपुरुषार्थका निरादर करनेके लिये अवश्य कोई 'लघुतासूचक' बहुत तुच्छ और छोटा नाम, जैसे कि 'धनुही' इत्यादि देते। यदि भारी कहें और वैसे ही विशेषणयुक्त पदोंका यहाँ प्रयोग करें तो वह श्रीरामजीको गौरव और अभिमानका कारण हुआ ही चाहे, उससे उनकी प्रशंसा ही होगी न कि लघुता। अतएव यहाँ केवल *'चापु'* कहकर रह गये, धनुषका गौरवसूचक कोई विशेषण साथमें नहीं दिया) और गुरुका धनुष है, इससे न लघु ही कहा न बड़ाई की। (ख) श्रीरामचन्द्रजीने जो कहा कि *'बेष बिलोके कहेसि कछु बालकहू नहि दोसु'*, *'देखि कुठार बान धनुधारी। भै लरिकहि रिस बीरु बिचारी'*, *'बंश सुभाय उतरु तेहि दीन्हा'* और *'जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं'* परशुरामजी ये सब बातें अभिमानकी समझे; इसीसे कहते हैं कि धनुष तोड़नेसे बड़ा अहंकार बढ़ गया कि किसीको अपने सामने वीर नहीं मानते हो। (ग) *'मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा'* मानो जगत्को जीतकर खड़े हो; इस कथनसे पाया गया कि धनुषके तोड़नेकी अपेक्षा जगत्का जीतना अधिक भारी कार्य है। परशुरामजीको जगत्के जीतनेका अभिमान है, यथा—*'समरजग्य जप कोटिन्ह कीन्हे'*; इसीसे वे जगत्के जीतनेको धनुष-भंजनसे अधिक कहकर श्रीरामजीके पुरुषार्थसे अपना पुरुषार्थ अधिक दिखाते हैं। (*'मनहु'*' शब्दसे भी यही भाव सूचित किया है। अर्थात् तुमने जीता नहीं है और मैंने तो जीता है। यथा—*'भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही।'* (२७२। ७) इसीसे श्रीरामजीके सम्बन्धमें *'मनहु'* का प्रयोग किया)। (घ) *'ठाढ़ा'*—इससे जनाया कि श्रीरामजी खड़े हुए हैं, खड़े-खड़े सब वार्ता हो रही है।

☞मिलान कीजिये—**'पुराणं जर्जरं चापं भङ्क्त्वा त्वं कत्थसे मुधा।'** (अ० रा० १। ७। १२) अर्थात् एक पुराने धनुषको तोड़कर व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा कर रहा है। देखिये मानसके *'अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा'* ये शब्द *'कत्थसे मुधा'* से कितने जोरदार हैं।

राम कहा मुनि कहहु बिचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी॥ ७॥
छुअतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥ ८॥

दो०—जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहि माथ॥ २८३॥

शब्दार्थ—**चूक**=भूल, गलती, कसूर। **बदि** (वदि)=कहकर।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे मुनि! (जरा) सोच-विचारकर कहिये। आपका क्रोध अत्यन्त बड़ा है, हमारी चूक बहुत ही छोटी है॥ ७॥ पुराना धनुष छूते ही टूट गया। मैं किस कारण अभिमान करूँ॥ ८॥ जो हम सचमुच 'बिप्र' कहकर आपका अपमान करते हैं, तो हे भृगुनाथ! सत्य ही सुनिये, संसारमें ऐसा कौन सुभट है जिसे हम भयवश मस्तक नवावें (झुकावें)॥ २८३॥

टिप्पणी—१ (क) 'मुनि' मननशील होते हैं, विचारकर बात कहते हैं, अतः ***'कहहु बिचारी'*** के सम्बन्धसे *'मुनि'* सम्बोधन दिया। (ख) ***'मुनि कहहु बिचारी'*** इस वाक्यसे परशुरामजीके सारे वाक्यका खण्डन करते हैं। इस तरह कि—परशुरामजीने जो कहा है कि ***'तहूँ बंधु सम बाम'*** है, उसपर श्रीरामजी कहते हैं कि जरा विचारकर कहिये, न तो हम वाम हैं और न हमारा भाई वाम है। उन्होंने जो अपनी वीरता कही, इसपर भी कहते हैं कि विचारकर कहिये, अपने मुखसे अपनी बड़ाई न करनी चाहिये। इसी तरह और भी जो उन्होंने कहा है उसका भी यही वाक्य खण्डन है जैसा आगेके उत्तरसे स्पष्ट हो जाता है। (ग) ***'रिस अति बड़ि'*** इति। परशुरामजीने कहा है कि मेरा कोप अत्यन्त घोर है, वही बात लेकर श्रीरामजी कहते हैं कि आपकी रिस 'अत्यन्त बड़ी' है और हमारी चूक अत्यन्त लघु है जैसा आगे कह रहे हैं—***'छुअतहि टूट पिनाक पुराना।'*** ***'लघु चूक'*** कहकर जनाया कि आपका कोप निर्मूल है।

टिप्पणी—२ ***'छुअतहि टूट......'*** इति। (क) यह परशुरामजीके ***'भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहु जीति जगु ठाढ़ा॥'*** इस वाक्यका उत्तर है। भाव कि धनुष पुराना (जीर्ण-शीर्ण) था इसीसे वह छूते ही टूट गया, तब मैं किस हेतुसे अभिमान कर सकता हूँ। तात्पर्य कि आपके क्रोधका कोई हेतु नहीं है (वह अकारण है, व्यर्थ ही है) क्योंकि हमारी चूक बहुत लघु है (उसे छू लिया यहीभर हमारी चूक है) और हमें अभिमानका कोई कारण उपस्थित नहीं है क्योंकि जीण-शीर्ण धनुषके तोड़नेमें कौन गौरव हो सकता है? (इस तरह जनाया कि पुराने धनुषके टूटनेपर यदि मैं अभिमान करूँ तो वह व्यर्थ और आप उसके कारण जो कोप करते हैं वह भी व्यर्थ है)। ***'दापु'*** का अर्थ 'अभिमान' है, यह यहाँ स्पष्ट कर दिया। (ख) ***'छुअतहि टूट',*** यथा—***'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सबु ठाढ़े॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।'*** (२६१। ७-८) (ग) ***'पुराना'***—यह धनुष सत्ययुगमें बनाया गया था और अब त्रेताका अन्त है, अतः 'पुराना' कहा। [(घ) छूते ही टूट जानेका दूसरा हेतु हनुमन्नाटकमें इस प्रकार कहा है—'**तद्ब्रह्ममातृवधपातकिमन्मथारिक्षत्रान्तकारिकरसंगमपापभीत्या। ऐशं धनुर्निजपुरश्चरणाय नूनं देहं मुमोच रघुनन्दनपाणितीर्थे॥**' (१। २५) अर्थात् उस शिवजीके धनुषके ब्रह्माका वध करनेसे (मृगी सरस्वतीके पीछे दौड़नेपर मृग ब्रह्माका सिर शिवजीने काट डाला था) पातकी, माताका वध करनेसे पातकी, शिवजीके और क्षत्रियकुलघालक परशुरामके हाथकी संगतिरूपी पापके भयसे प्रायश्चित्त करनेके लिये निश्चय करके उसने श्रीरामचन्द्रके हस्तरूपी तीर्थमें अपनी देह त्यागी। (ब्रह्माका एक सिर शिवजीने काट डाला था, यह कथा बृहद्विष्णुपुराण मिथिलामाहात्म्यमें भी है। पूर्व भी भाग १ सो० ५ और सो० १४ में प्रमाण दिये गये हैं)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—***'भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा'*** का उत्तर देते हुए सरकार कहते हैं—आप मुनि हैं, आपको विचारकर बोलना चाहिये। आप विचारसे काम नहीं लेते। मैंने ठीक कहा कि ***'देव एकु गुनु धनुष हमारे।'*** धनुष आपका गुण नहीं हो सकता। युद्ध हमारा धर्म है, आपका नहीं। आपने आपद्धर्ममें धनुषका सहारा लिया होगा, मेरा तो वह स्वभावज

धर्म है। मैं स्वधर्माचरण करता हूँ, उसे आप अभिमान बतला रहे हैं। धनुष-भङ्ग लघु चूक है। बलके दिखलानेमें ही क्षत्रियकी बड़ाई है। ब्राह्मणकी दृष्टिसे इसे भले ही आप चूक समझें।

जिसे आप विदित संसार धनुष कह रहे हैं, वह तो कुछ भी न था, इतना पुराना था कि उसे छूनेमात्रकी देर थी, टूटनेमें देर न लगी। यदि मैंने कुछ पुरुषार्थ किया होता तो अभिमानके लिये स्थान भी होता, जिस क्रियामें कोई आयास ही न हुआ, उसके लिये मैं अभिमान क्यों करूँ?

टिप्पणी—३ *'जौं हम निदरहिं……'* इति। (क) यह परशुरामजीके *'बोलसि निदरि बिप्र के भोरें'* का उत्तर है। (ख) *'निदरहिं बिप्र बदि'* इति। परशुरामजी 'विप्र' कहे जानेसे अपना अपमान मानते हैं, यथा—*'बार बार मुनि बिप्रबर कहा राम सन राम। बोले भृगुपति सरुष हसि तहूँ बंधु सम बाम॥'*; इसीपर श्रीरामजी कहते हैं कि आप 'विप्र' सम्बोधनसे अपना निरादर मानते हैं, पर हम आपका निरादर करनेके लिये 'विप्र' नहीं कहते, हम तो आपके आदर-सम्मान हेतु ही आपको 'विप्र' कहते हैं। *'निदरहिं बिप्र बदि'* से सूचित किया कि हम ब्रह्मण्य हैं, ब्राह्मणका निरादर कभी नहीं करते। पुनः, [(ग) *'जौं हम निदरहिं……'* का भाव कि हम तो 'विप्रवर' कहकर आपका आदर ही करते हैं पर आप अपना ब्राह्मणस्वरूप भूल गये हैं, अपना धर्म छोड़ बैठे हैं, इससे आपको निरादर ही सुझायी पड़ता है। (मा० पी०, प्र० सं०)](घ) *'तौ अस को जग सुभटु……'* इति। तात्पर्य कि हम तुमको ब्राह्मण जानकर मस्तक नवाते हैं, सुभट जानकर भयसे माथा नहीं नवाते। (ङ) *'सत्य सुनहु भृगुनाथ'* इति। भाव कि हम कुछ अपनी बड़ाईके लिये बात बनाकर नहीं कहते, किंतु सत्य-सत्य कहते हैं, हम सत्यवक्ता हैं, यथा—'**ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यथा।**' (च) *'जग सुभटु—* यहाँ 'जग' से तीनों लोक समझना चाहिये, क्योंकि आगे तीनों लोकोंके वीर गिनाये हैं। [(छ) मैं ब्राह्मणके अनादरसे डरता हूँ, किसी सुभटको भयसे सिर झुकानेवाला नहीं हूँ, मेरा मस्तक विप्रचरणोंमें ही झुकता है, योद्धाके चरणोंमें नहीं—इस तरह यहाँ व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनोंमें समान चमत्कार होनेसे 'गुणीभूत व्यंग्य' है। यह भी जनाते हैं कि वस्तुतः आप सुभट नहीं हैं, यह क्षत्रियसंहारवाला जो तेज आपमें है वह हमारा ही दिया हुआ है। आपका यह आवेशावतार है। रमापतिने धनुष देते समय यह तेज आपको दिया था।]

पं०—विजयानंद त्रिपाठीजी—*'मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें। बोलसि निदरि बिप्र के भोरें॥'* का उत्तर देते हुए सरकार कहते हैं कि मेरे हृदयमें मुनि और विप्रवर शब्दका बड़ा मान है। आप मुनि हैं, आप विप्रवर हैं, इसीलिये आप पूज्य हैं, आपके तिरस्कार करनेपर भी मुझे रोष नहीं है, मैं ब्राह्मणत्वसे डरता हूँ। क्षत्रियत्वसे नहीं डरता। हम जो माथा नवा रहे हैं तो क्या आप समझते हैं कि आपके बाहुबल, अस्त्रबल वा शस्त्रबलको माथा नवा रहे हैं। भ्रम छोड़ दीजिये, ऐसा सुभट जगतीतलमें कोई है ही नहीं, जिसके बाहुबल, अस्त्रबल या शस्त्रबलके सामने हम झुकें।

देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना॥ १॥
जौ रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥ २॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पावँर आना॥ ३॥
कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥ ४॥
बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥ ५॥

शब्दार्थ—**पचारै** (प्रचारै)=ललकारे। **सुखेन**=सुखपूर्वक; यथा—*'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ।'* (२। ५७) *'तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान।'* (२। ९६) **सकाना**=शंकित हुआ, डरा, हिचकिचाया।

अर्थ—देवता, दानव-दैत्य, राजा, अनेकों योद्धा, चाहे वे बलमें हमारे बराबरवाले (समान बलवान्) हों, चाहे अधिक बलवान् (ही क्यों न) हों॥ १॥ यदि हमें कोई भी रणमें ललकारे तो हम सुखपूर्वक

लड़ेंगे, चाहे वह मूर्तिमान् काल ही क्यों न हो॥ २॥ क्षत्रिय शरीर धारणकर जो लड़ाई करनेमें डरा, उस नीचने अपने कुलमें कलंक लगाया॥ ३॥ मैं स्वभावसे (अर्थात् बनाकर नहीं) कहता हूँ, (कुछ) कुलकी प्रशंसा करके नहीं कहता। (अर्थात् यथार्थ ही कहता हूँ।) रघुवंशी रणमें कालसे भी नहीं डरते॥ ४॥ ब्राह्मणवंशकी ऐसी ही प्रभुता है कि जो आपको डरता है वह सबसे निर्भय हो जाता है। (वा जो सबसे निर्भय है वह भी आपसे डरता है)॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'देव दनुज भूपति भट नाना।*······' इति। (क) देव, दनुज और भूपति कहकर तीनों लोकोंके वीर सूचित कर दिये। देवसे स्वर्ग, दनुजसे पाताल और 'भू (पृथ्वीके)-पति' से मर्त्यलोकके वीर कहे। देवता, असुर और भूपतिमें अनेक 'भट' हैं। इसीसे *'भट नाना'* कहा। (ख) *'सम बल अधिक होउ बलवाना'* इति। सम, अधिक और न्यून तीन श्रेणियाँ होती हैं, उसमेंसे यहाँ 'सम' और 'अधिक' दोहीको कहते हैं, न्यूनको नहीं कहते। कारण कि जो समान होगा या अधिक बलवान् होगा वही रणमें ललकारेगा जो न्यून होगा वह क्यों प्रचारने लगा, उसका तो साहस ही न होगा कि सामने आवे। पुनः भाव कि श्रीरामजी किसीको अपनेसे न्यून नहीं कहते। श्रीरामजीके समान ही कोई नहीं है, अधिक कहाँसे होगा; यथा—*'जेहि समान अतिसय नहिं कोई'* (३। ६), *'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'* (श्वे० ६। ८); तो भी वे सबको अपने समान और अधिक कहते हैं, यह उनकी शिष्टता है, उनका शील है। सब कोई श्रीरामजीसे न्यून हैं, पर वे किसीको अपनेसे न्यून नहीं कहते, प्रतिष्ठित बड़े लोगोंके बोलनेकी यही रीति है। (ग) शंका—लक्ष्मणजीने देवताओंसे लड़नेको नहीं कहा, केवल यही कहा था कि *'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥'* (२७३। ६) पर श्रीरामजी देवताओंसे लड़नेको कहते हैं—*'देव दनुज······। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ।'* यह क्या बात है? समाधान—वस्तुतः श्रीरामजी देवताओंसे लड़नेको नहीं कहते। देवताओंमें जो सुभट हैं, जिनको युद्ध करनेका अभिमान है, यथा—*'जे सुर समर धीर बलवाना। जिन्ह कें लरिबे कर अभिमाना॥'* (१८२। २) उनसे लड़नेको कहते हैं। ब्राह्मण और साधुओंकी सुभटोंमें गिनती नहीं है, इसीसे देवताओंसे लड़नेको कहते हैं, साधु-ब्राह्मणसे नहीं। (घ) [*'नाना'* में भाव यह भी है कि चाहे वे अकेले आवें, चाहे बहुतसे मिलकर आवें। (मा० पी०, प्र० सं०)]

टिप्पणी—२ *'जौं रन हमहि पचारै कोऊ।*·······' इति। (क) परशुरामजी श्रीरामजीको प्रचारते हैं, यथा—*'छल तजि करहि समरु सिवद्रोही।'* (२८१। ३) इसीपर श्रीरामजी कह रहे हैं—*'जौं रन*·······' *'कोऊ'* अर्थात् देवता, दनुज, या भूपति कोई भी हो, हम सबसे लड़ेंगे। (ख) *'लरहिं सुखेन'* का भाव कि यदि हमें प्रचारनेवाला कोई सुभट मिले तो हमें भी युद्ध करनेमें बड़ा उत्साह होगा। (ग) *'कालु किन होऊ'*—भाव कि काल सबसे बड़ा है, यथा—*'अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥'* (७। ९४) सो ऐसा दुरतिक्रम काल भी यदि हमें ललकारे तो हम उससे भी सुखपूर्वक लड़ें, उसका भय कदापि न मानेंगे। *'सुखेन'* सुखपूर्वक लड़नेका भाव कि क्षत्रियको समरमें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये। यथा—*'रामहि सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु ते जग जीवत जाय॥'* (दोहावली ४२) (घ) श्रीरामजी देव-दनुजादिसे तथा कालसे लड़नेको कहते हैं, पर यद्यपि उनको जीतनेका सामर्थ्य है, (यथा—*'सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥'* (२। १८९) *'रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहिं संग्राम।'* (५। ५५) तो भी जीतनेकी बात नहीं कहते, अपने मुखसे अपनी बड़ाई नहीं करते, यह भी शिष्टता और शास्त्रमर्यादाका पालन है।

टिप्पणी—३ *'छत्रिय तनु धरि समर सकाना।*·······' इति। (क) भाव कि क्षत्रिय-देहका धर्म समर है। (ख) प्रथम श्रीरामजीने कहा कि ऐसा कौन सुभट है जिसे हम भयवश मस्तक नवायें, यह कहकर अब 'भय' में दोष दिखाते हैं कि *'छत्रिय·····आना।'* *'तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहि माथ'* से *'लरहिं सुखेन कालु किन होऊ'* तक क्षत्रियकुलका धर्म कहा कि क्षत्रिय संग्राममें भय न करे, ललकार सुननेपर सुखपूर्वक लड़े। और अब क्षत्रियकुलका अधर्म कहते हैं। (ग) *'छत्रिय तनु धरि*····' का भाव

कि, क्षत्रियका शरीर समरके ही लिये है। जिसे अपने तनकी शङ्का होती है कि न जाने रहे कि जाय, उसका मनमें शंका लाना ही कुलमें कलंक लाना है अर्थात् समरमें शंकित होना क्षत्रियके लिये कलंक है, क्योंकि कुलमें कलंक आनेसे कुलको नरकमें पड़ना पड़ा, कुलका नाम ही डूब गया। [क्षत्रियकी छातीमें क्षात्रधर्म बसता है (शूरता निमित्त) और ब्राह्मणके पृष्ठमें रहता है (सहायता निमित्त), अतएव क्षत्रिय शत्रुके सम्मुख पीठ न दिखावे। (मा० पी० प्र० सं०)] समरमें शंकित होनेसे क्षत्रियको *'पावँर'* (अधम) कहा।

टिप्पणी—४ *'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी।......'* इति। (क) *'न कुलहि प्रसंसी'* इति। अगले चरणमें कहते हैं कि रघुवंशी कालको भी नहीं डरते, इस कथनसे कुलकी बड़ाई करना पाया जाता, इसीसे *'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी'* प्रथम ही कह दिया जिससे ये शब्द कुलकी प्रशंसा करनेके अर्थमें न समझे जायँ किंतु यथार्थ कथन ही निश्चित हो। (ख) *'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी'* इति। हम कालको नहीं डरते, ऐसा कहनेसे (अपने मुख) अपनी बड़ाई पायी जाती, इसलिये ऐसा नहीं कहा, कुलकी बड़ाईके द्वारा अपनी भी बड़ाई की अर्थात् हम रघुवंशी हैं, इससे हम भी कालसे नहीं डरते। पूर्व अपने सम्बन्धमें कहा था कि *'लरहिं सुखेन कालु किन होऊ।'* सुखपूर्वक लड़ना कहकर अभिप्रायसे जनाया था कि हम कालसे नहीं डरते, साक्षात् बड़ाईका शब्द नहीं कहा। (ग) *'कालहु'* से कालकी बड़ाई दिखायी। भाव कि जब कालको नहीं डरते तब और वीर किस गिनतीमें हैं? उससे अधिक तो कोई है ही नहीं, जिससे डरें। (घ) *'डरहिं न रन'* इति। रण शब्द देकर जनाया कि संग्राममें शङ्का न करना चाहिये, इसीसे सर्वत्र रण कहते आये हैं। यथा—*'जौं रन हमहि पचारै कोऊ'* *'छत्रिय तनु धरि समर सकाना'* *'कालहु डरहिं न रन।'* [(ङ) इसपर यदि परशुरामजी कहा चाहें कि जब कालसे नहीं डरते हो तो सिर आगे क्यों धरते हो, *'करु कुठारु आगे यह सीसा'* क्यों कहते हो, तो उसका उत्तर देते हैं—*'बिप्र बंस कै......'*]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'चाप श्रुवा सर आहुति जानू......समरजग्य जप कोटिक कीन्हे'* इन तीन अर्धालियोंका उत्तर सरकारने भी तीन अर्धालियोंमें दिया। देव स्वर्गलोकके योद्धा, दनुज पाताललोकके योद्धा, भूपति भट नाना मर्त्यलोकके योद्धा, चाहे जो हो मैं किसीके बलाबलको नहीं देखता, केवल ललकार देखता हूँ। जो मुझे ललकारेगा, उससे आनन्दपूर्वक युद्ध करता हूँ। मैं कालको नहीं डरता। मैं बलवान्‌की ललकार नहीं सह सकता, बड़ेकी नाराजगी सह सकता हूँ।

'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥' (अर्थात् पार्थ! अपने-आप प्राप्त यह स्वधर्मरूप युद्ध स्वर्गका खुला द्वार है। भाग्यशाली क्षत्रिय ही इस प्रकारके युद्धको पाते हैं। यदि तू इस धर्मरूप संग्रामको नहीं करेगा, तो अपने धर्मको और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा। (गीता २। ३२-३३) भाव कि क्षत्रियोंके लिये तो युद्ध महोत्सव है, उसकी इच्छा उन्हें सदा बनी रहती है, सो यदि घर बैठे-बिठाये मिल जाय, तो वह क्षत्रिय भाग्यवान् है। क्षत्रिय होकर जो युद्ध-महोत्सवसे मुख मोड़ता है, वह स्वधर्मसे पतित हो जाता है, उसकी अपकीर्ति होती है, वह पापी है, इसीलिये उसे कुलकलङ्क और पामर कहा है।

रघुवंशियोंके लिये तो इस क्षात्रधर्मके उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि *'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरहि न काऊ॥ जिन्ह कै लहहि न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मन डीठी॥'* कालसे भी रणमें न डरना तो उन्हें स्वभावसिद्ध है। जो जिसको स्वभावसिद्ध है, उसके लिये उसकी प्रशंसा नहीं की जाती। अतः मुझे *'चाप श्रुवा सर......'* सुनानेकी आवश्यकता नहीं है।

टिप्पणी—५ *'बिप्रबंस कै असि.....'* इति। (क) *'अभय होइ जो तुम्हहि डेराई'* इति। *'जो अभय होइ सो तुम्हहि डेराई'* का तात्पर्य यह है कि जो कालको भी नहीं डरता वह तुमको डरता है। अभिप्रायसे जनाते हैं कि हम कालको नहीं डरते, पर तुमको डरते हैं। इसीके अन्तर्गत ब्राह्मणसे डरनेका माहात्म्य

कहते हैं कि जो तुम्हें डरे वह अभय हो जाय, फिर उसे किसीसे भय न रह जाय, सभी उसके वशीभूत हो जायँ। यथा—*'मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव॥'* (३। ३३) पुनः भाव कि आपसे डरे बिना अभयको भी भय होता है, यथा—*'इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र द्रोह पावक सो जरई॥'* (७। १०९) (शिववाक्य) 'जो' अभय है वह तुमसे डरता है' इस अर्थका प्रमाण, यथा—'**नाहं विशङ्के सुरराजवज्रात्।**' (ख) 'जो' इति। यदि श्रीरामजी केवल अपने वंशका डरना कहते तो एकदेशीय होता, इसीसे 'जो' शब्द दिया जो सर्वदेशीय है। 'जो'=जो कोई, जो भी। अर्थात् मैं ही नहीं, सभी जो अभय हैं वे……। आगे चौ० ६, ७ में नोट १ भी देखिये।

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के॥ ६॥
राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥ ७॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके कोमल और गूढ़ वचन सुनकर परशु धारण करनेवाले-(परशुराम-) की बुद्धिके परदे खुल गये॥ ६॥ (और वे बोले—) हे राम! लक्ष्मीपति विष्णुभगवान्‌का (यह) धनुष हाथमें लीजिये और इसे खींचिये, जिससे मेरा संदेह मिट जाय॥ ७॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'तहूँ बंधु सम बाम'* का उत्तर देते हुए सरकार कहते हैं कि निर्भय होनेसे ही आप मुझे वाम कहते हैं, सो यह विप्रवंशकी प्रभुता है, मेरी नहीं है। मैं विप्रवंशको डरता हूँ, इसलिये अभय हूँ। मैंने तो विप्रगुरुपूजाका अभेद्य कवच पहन रखा है, अतः मैं अकुतोभय हूँ। मैं ही नहीं, जो ही विप्रवंशसे डरेगा, विप्रगुरुपूजाका अभेद्य कवच धारण करेगा, वही अभय हो जायगा।

सरकारके वचन मृदु हैं। परशुरामजीसे डरना स्वीकार करते हैं, पर साथ-ही-साथ गूढ़ हैं। परशुरामजीकी प्रतिष्ठा विप्रवंश होनेसे कर रहे हैं, उनके ब्रह्मबलसे डर रहे हैं। स्वधर्मपर रहनेसे ही ब्राह्मणकी प्रतिष्ठा है। क्षात्रधर्म उसके लिये परधर्म है। आपद्धर्मरूपसे क्षात्रधर्म स्वीकार करनेपर भी वह स्वधर्म नहीं हो जायगा। आपद्धर्मरूपी कारणके हटते ही परधर्मका त्याग करके स्वधर्मपर तुरंत आ जाना चाहिये। परधर्माभिमान इतना रूढ़ न होना चाहिये कि उसमें ही अपनी प्रतिष्ठा मानने लगे। सरकारके लिये कहा है कि '**स्वधर्मं बहु मन्यते।**' अतः दोनों सरकारोंने ऐसी बातचीत की कि परशुरामजीका अज्ञान-पटल हट गया।

जिस भाँति कृष्णावतारमें सरकारने स्वधर्मपरित्यागपूर्वक (पर-धर्म) भिक्षाके लिये सन्नद्ध अर्जुनको उपदेश देकर स्वधर्मपर आरूढ़ किया, उसी भाँति इस अवतारमें परशुरामजीको परधर्म-(क्षात्रधर्म-)से हटाकर स्वधर्मपर आरूढ़ किया, यथा—*'भृगुपति गये बनहिं तप हेतू।'*

टिप्पणी—१ *'मृदु गूढ़ बचन'* इति। (क) वचन कोमल हैं। परशुरामजीके वचनोंका खण्डन किया और अपना क्षत्रियधर्म कहा, पर वचनमें कठोरता न आने पायी। (श्रीरामजी मृदु तो सर्वदा ही बोलते हैं, पर यहाँ प्रयोजन आ पड़नेपर वचनोंको और भी कोमल करके बोले, जिसमें परशुरामजीका क्रोध शान्त हो जाय)। वचन गूढ़ हैं अर्थात् इनमें बहुत आशय भरा हुआ है, इनका अभिप्राय गुप्त है। [(गूढ़ बोले क्योंकि प्रभु परशुरामजीको अपना स्वरूप जनाया चाहते हैं)। 'मृदु', यथा—*'हमहिं तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा।'* (२८२। ५) से *'छमहु बिप्र अपराध हमारे॥'* (८) तक। गूढ़ यथा—*'जो हम निदरहिं बिप्र बदि'* से *'अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई'* तक] (ख)—गुप्त अभिप्राय यह है कि तीनों लोकोंको एवं कालको जीत सकनेका सामर्थ्य और ब्राह्मणकी गालियाँ सुने इतना ब्रह्मण्य ईश्वरहीमें है, अन्यमें नहीं। पुनः शिवधनुष जिसके स्पर्शमात्रसे टूट गया, जिसको अभिमान नहीं है—*'मैं केहि हेतु करौं अभिमाना'* जिसमें इतनी क्षमा है, वह ईश्वर ही हो सकता है दूसरा नहीं। इत्यादि अभिप्राय गुप्त हैं। (ग) *'रघुपति'* इति। भाव कि रघुकुलके पति अर्थात् रक्षक हैं ('**पा रक्षणे**' के अनुसार पति=रक्षक)। ब्राह्मणभक्तिसे कुलकी रक्षा होती है, श्रीरामजी वही ब्राह्मणभक्ति कहते हैं—*'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं*

डेराई॥' इसी भक्तिसे उन्होंने कुलकी रक्षा की, अतः 'रघुपति' कहा। यथा—'*सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धरम धुरंधर रघुकुल नाथा।*' (७। ५) सब ब्राह्मणोंको सिर नवाया, इस धर्मसे रघुकुलकी रक्षा की, इसीसे यहाँ '*रघुकुल नाथ*' कहा। (घ)—'*उघरे पटल परसुधर मति के*' इति, परशुरामजीकी बुद्धिपर बहुत परदे पड़े हैं, इसीसे '*उघरे*' बहुवचन क्रिया दे रहे हैं। वह परदे कौन हैं और उनका उघरना आगे परशुरामजी स्वयं अपने मुखसे कहते हैं, यथा—'*जय मद मोह कोह भ्रम हारी।*' मद, मोह, क्रोध और भ्रम अन्धकाररूप हैं, यथा—'*मद मोह महा ममता रजनी।*' '*घोर क्रोध तम निसि जो जागा*' '*भ्रम तम रबिकर बचन मम*' श्रीरामजीके वचन रविकिरण हैं, यथा—'*तमपुंज दिवाकर तेज अनी*' '*महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।*' तात्पर्य कि मदादिसे बुद्धि दूषित हो गयी, उसपर परदे पड़ गये, समझ न रह गयी। जब मदादि न रह गये, तब बुद्धि निरावरण हुई, श्रीरामजीका स्वरूप समझ पड़ा, जाना कि वे परमेश्वर हैं।

नोट—१ विजयदोहावलीके '*राम कहा भृगुनाथ सों, कहि असि नायउ माथ। अभय होय तुमको डरै धरे चरणपर हाथ॥*' इस दोहेके आधारपर कुछ महानुभाव यह अर्थ कहते हैं कि '*असि*' निर्देश पद है अर्थात् विप्रवंश कहकर तब श्रीरामजीने हाथसे छातीपर भृगुलता चिह्नकी ओर इशारा करते हुए यह बात कही है कि ऐसी प्रभुता है कि जो मैं तुम्हारे पुरुखा भृगुसे डरा, उसीसे अब सबसे निर्भय हूँ। मयङ्ककार कहते हैं कि तुम मुझको निडर कहते हो और डरवाना चाहते हो मानो भृगुकी दी हुई निडरता तुम व्यर्थ करना चाहते हो।

मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि—'*बिप्र बंस*' यह चरम वाक्य है, भगवान्‌का अन्तिम वचन है और जो प्रथम कहा था कि '*होइहि कोउ एक दास तुम्हारा*' यह अब यहाँ स्पष्ट हो जाता है। इसमें भगवान्‌ने अपना रूप दर्शाया है। '*जासु त्रासु डर कहँ डर होई*' ऐसा निर्भय पुरुष भी आपसे डरता है, ऐसा '*अभय होइ जो*' से सूचितकर अपनेको परात्पर ब्रह्मका अवतार बताते हैं।

यहाँ '*परसुराम, भृगुपति, मुनि*' आदि शब्द न दिये। इन शब्दोंसे बुद्धिमत्ता सूचित होती। अतः '*परसुधर*' कहा, अर्थात् फरसा चलानेवाले ही तो ठहरे, बुद्धि कहाँसे होती? और प्रथम-प्रथम लक्ष्मणजीने जब अपमानित वचन कहे, तब भी यही नाम दिया गया है। जिस कारण अपमान हुआ वह अब इनकी समझमें आ गया।

टिप्पणी—२ '*राम रमापति कर धनु लेहू।*……' इति। इस कथनसे पाया गया कि विष्णुका धनुष शिव-धनुषसे कठोर था। श्रीरामजीने शिव-धनुषको खींचा और तोड़ा, इससे उनका संदेह न गया। अथवा, विष्णुभगवान्‌ने इनसे कहा होगा कि यह धनुष हमारे सिवा किसी दूसरेसे न खिंचेगा।

नोट—२—२४४। ५ में पूर्व लिखा जा चुका है कि विश्वकर्माने दो धनुष निर्माण किये थे, एक वह जो तोड़ा गया और दूसरा भगवान् विष्णुके लिये। परशुरामजी शिवजीसे धनुषविद्या सीखते थे तब कोई धनुष इनके बलके आगे नहीं 'खटता' था, जिसे खींचें वह टूट जाय। तब शिवजीने अपना पिनाक दिया जो न चढ़ सका और न इनसे टूटा। फिर इन्होंने महेन्द्राचलपर तपस्या करके विष्णुभगवान्‌को प्रसन्न किया तब उन्होंने अपना वह धनुष, जो शिवजीसे संग्राम करनेके लिये निर्माण किया गया था, इनको दे दिया। पर यह कह दिया था कि श्रीरामजीके अवतार हो जानेपर तुम्हारे कार्य और अवतारका अन्त हो जायगा और यह आयुध उनके पास चला जायगा। तुम्हारे सिवा जो कोई इसे चढ़ावे उसे समझना कि परात्पर ब्रह्महीका अवतार है। तबसे यह शार्ङ्गधनुष इनके पास है। अबतक यह धनुष न किसीके पास गया न किसीने इसे चढ़ाया था, इसीलिये परशुरामजी समझते थे कि अभी अवतार नहीं हुआ है। पिनाकके टूटनेका भविष्य उन्हें मालूम न था। वाल्मीकीयमें परशुरामजीने रामचन्द्रजीसे यह कहा है कि यह धनुष विष्णुभगवान्‌ने भृगुवंशी ऋचीकको थाती (धरोहर) दिया था, जो उन्होंने अपने महात्मा पुत्र जमदग्निको दिया था (उनसे मुझे मिला)। यथा—'**ऋचीके भार्गवे प्रादाद्विष्णुः स न्यासमुत्तमम्। ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः॥**'(वाल्मी० १। ७५। २२) अध्यात्मरा० में परशुरामजीने कहा है कि मैंने बाल्यावस्थामें चक्रतीर्थमें जाकर तपस्याद्वारा परमात्मा नारायण विष्णुभगवान्‌को

प्रसन्न किया, तब उन्होंने प्रकट होकर मुझे पितृघाती हैहयश्रेष्ठ कार्तवीर्यका वध करने और फिर इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेकी आज्ञा देते हुए कहा कि तुम मेरे चिदंशसे युक्त होकर यह काम करो और फिर सम्पूर्ण पृथ्वी कश्यपजीको देकर शान्ति लाभ करो। रामावतार होनेपर मेरा दिया हुआ तेज फिर मुझमें लौट आवेगा। (आ० रा० १। ७। २१—२८)।

टिप्पणी—३ (क) *'रमापति कर धनु लेहू'* के कई प्रकारसे अर्थ होते हैं—(१) रमापतिके हाथका धनुष लो। (२) रमापतिका धनुष हाथमें लो। (३) रमापतिका धनुष लो। (ख) *'रमापति'* पदका भाव कि जो श्रीरामजीने कहा है कि *'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥'* यह लक्षण रमापतिमें है, यह सोचकर वे कहते हैं कि रमापतिका धनुष हाथमें लीजिये और खींचिये। (ग) *'कर लेहू'* हाथमें लीजिये। करमें लेनेका भाव यह है कि परशुरामजी धनुष-बाण सौंप रहे हैं अर्थात् यह जनाते हैं कि यह आपका धनुष है, आप अपना धनुष-बाण लीजिये। यथा—*'लायक हे भृगुनायक सो धनु सायक सौंपि सुभाय सिधाए।'* (क० १। २२) लोकरीति है कि जिसकी चीज है, उसके हाथमें सौंपी जाती है। (घ) *'खैंचहु मिटै मोर संदेहू'* इति। अर्थात् खींचनेसे मेरा भ्रम मिट जायगा, निश्चय हो जायगा कि आप रमापति हैं। पुनः भाव कि आपने वचनसे हमारा भ्रम मिटाया, अब कर्मसे संदेह मिटाइये। पुरुषार्थकथनसे संदेह बना रहा और पुरुषार्थ कर दिखानेसे संदेह दूर हो गया। (प्रथम उनको 'भ्रम' था वे श्रीरामजीको राजकुमार समझते थे। भगवान्‌के उत्तरके वचन सुनकर 'संदेह' उत्पन्न हो गया कि ये राजकुमार हैं या परमेश्वर हैं। निश्चय नहीं कर पाते। अतः विष्णु-धनुषको खींचनेको कहा। खींचनेसे निश्चय हो जायगा कि भगवान् हैं और न खींच पाये तो समझ लेंगे कि राजकुमार ही हैं)।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—*'मिटै मोर संदेहू'* इति। जहाँ संदेह है वहाँ आस्तिक्य (विश्वास) नहीं रह सकता। आत्मविश्वासको भी खो बैठे थे। यथा—*'मोरे हृदय कृपा कसि काऊ।'* इससे आस्तिक्यका अभाव सिद्ध हुआ। यहाँतक इस प्रसङ्गमें नवें गुणोंका अभाव परशुरामजीमें दिखाया गया।

देत चापु आपुहि चलि गएऊ। परसुराम मन बिसमय भयेऊ॥ ८॥

दो०—जाना राम प्रभाउ* तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेम अमात॥ २८४॥

अर्थ—धनुष देने लगे तो वह आप ही चला गया (तब) परशुरामजीके मनमें बड़ा विस्मय (आश्चर्य और भय) हुआ॥ ८॥ तब उन्होंने श्रीरामजीका प्रभाव जाना, (जिससे उनका) शरीर पुलककर प्रफुल्लित हो गया। वे हाथ जोड़कर वचन बोले। प्रेम हृदयमें नहीं अमाता॥ २८४॥

टिप्पणी—१ *'देत'* अर्थात् परशुरामजी धनुष देने नहीं पाये (थे कि) वह स्वयं ही चला गया। *'चलि गएऊ'* अर्थात् आप ही चलकर श्रीरामजीके हाथमें गया। परशुरामजीने कहा था कि आप धनुष खींचकर हमारा संदेह दूर करें, सो धनुषने स्वयं चले जाकर जना दिया कि मैं इन्हींका धनुष हूँ और इतनेसे ही उनका संदेह दूर कर दिया। अपनेसे चले जाकर जनाया कि मैं इन्हींका हूँ।

नोट—१ *'देत चापु आपुहि चलि गएऊ'* के और भाव ये कहे जाते हैं—(२) धनुषको देते ही उसके साथ आपहीसे परशुरामका वैष्णव तेज निकलकर रामचन्द्रजीके मुखमें प्रवेश कर गया, यथा—'नृसिंहपुराणोक्तरामायण—**'ज्याघोषमकरोद्वीरो वीरस्थैवाग्रतस्तदा। ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम्॥ पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुखे विशन्।'** परशुरामका अंश चला गया, वे खाली ब्राह्मण या जीव रह गये। परशुरामजी आवेशावतार हैं।—(मा० त० वि०) परशुरामजी पाँच कलाके अवतार हैं। वे पाँचों कलाएँ धनुषके साथ ही जाकर श्रीरामजीमें लीन हो गयीं। [पद्मपुराण उत्तरखण्डमें लिखा है कि श्रीरामजीने ज्यों ही वह

* प्रताप—१७०४।

धनुष ले लिया, त्यों ही उसके साथ उन्होंने अपनी वैष्णवशक्ति भी खींच ली, जिससे परशुराम कर्मभ्रष्ट ब्राह्मणकी भाँति वीर्य और तेजसे हीन हो गये। यथा—'**एवमुक्तस्तु काकुत्स्थो भार्गवेण प्रतापवान्। सचापं तस्य जग्राह तच्छक्तिं वैष्णवीमपि॥ शक्त्या वियुक्तस्स तदा जामदग्न्यः प्रतापवान्। निर्वीर्यो नष्टतेजाश्च कर्महीनो यथा द्विजः॥** (१६३-१६४॥ अ० २४२) इसके अनुसार *'आपुहि चलि गएऊ'* से यह भाव लिया जा सकता है कि अपनेमें जो शक्ति थी वह भी साथ-ही-साथ श्रीरामजीमें चली गयी।]

टिप्पणी—२ *'मन बिसमय भयेऊ'* इति। (क) विस्मय हुआ कि विष्णु-धनुष श्रीरामजीके पास आपसे ही कैसे चला गया। तब निश्चय किया कि ये भगवान्के अवतार हैं, धनुष दिव्य है, श्रीरामजीको अपना स्वामी जानकर उनके पास चला गया। भगवान्के सब आयुध दिव्य हैं। जैसे उनके बाण कार्य करके फिर लौट आते हैं और तरकशमें प्रवेश कर जाते हैं, यथा—*'अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग।'* (६। १३) *'मंदोदरि आगे भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥ प्रबिसे सब निषंग महुँ जाई।'* (६। १०२) (ख) विस्मयके दो कारण हैं, एक तो धनुषको स्वयं चला जाना और दूसरे श्रीरामजीका पुरुषार्थ। आश्चर्य हुआ कि ऐसे अत्यन्त कोमल बालकने महाधनुषको खींच लिया। जैसे जो लक्ष्मणजी रावणके उठाये न उठे, उन्हें जब हनुमान्जीने उठा लिया तब रावणको विस्मय हुआ था—*'अस कहि लछिमन कहँ कपि ल्यायो। देखि दसानन बिसमय पायो॥'* (६। ८३) (ग) अथवा, मनमें विस्मय हुआ कि विष्णुभगवान्ने तो कहा था कि जब हम चढ़ावेंगे तब चढ़ेगा और यह तो अपनेसे ही चढ़ गया, अतः ये विष्णुके भी विष्णु (अर्थात् उनके भी सेव्य ब्रह्म श्रीरामजी) हैं—[(घ) मयंककार लिखते हैं कि इस चौपाईका तात्पर्य है कि परशुरामको यह पहलेसे ही संकेत था कि जो इसको चढ़ावेगा उसे नारायण जानना, परंतु यहाँ अधिक हुआ। धनुष देते समय आप भी आकर्षित हो चले गये, इससे इनको ज्ञात हो गया कि ये सबके कारण परतम हैं। (ङ) पाँड़ेजी कहते हैं कि धनुष आप ही (परशुरामको) छोड़कर भगवान्के पास चला गया, इससे इन्होंने रामजीको विष्णुके भी ऊपर जान अपनी अज्ञानतापर आश्चर्य किया और कठोर वचनोंपर लज्जित हो विस्मयको प्राप्त हुए। (च) परशुरामजी यह डरे कि रोदा चढ़ानेपर रामचन्द्रजीने कहा है कि अब यह निष्फल नहीं जा सकता, तुम ब्राह्मण हो और हमारे गुरु विश्वामित्रजीके सम्बन्धी हो इससे हम तुमको मारते नहीं अब तुम बताओ कि हम इससे तुम्हारी गतिका नाश करें जिससे तुम जहाँ चाहते हो हवामें चले जाते हो या जो तुमने अपना लोकालोक (परलोक) बनाया है उसे नष्ट करें। बाण चढ़ाते ही इनका तेज नष्ट हो गया। इससे वे घबड़ाये और प्रार्थना की कि जो लोकालोक हमने उत्पन्न किये हैं उनका नाश कर दीजिये, हम फिर तप करके परलोक बना लेंगे, क्योंकि इन्होंने विचार किया कि शरीर ही न रहेगा तो फिर क्या हो सकेगा, यथा—कवित्तरामायण—*'नाक में पिनाक मिस बामता बिलोकि राम, रोक्यो परलोक लोक भारी भ्रम भानिकै।'* (६। २६)। *'भृगुपति गये बनहि तप हेतू।'* तब रामचन्द्रजीने इनका परलोक नाशकर इनको अभय किया। (मा० पी० प्र० सं०)]

टिप्पणी—३ *'जाना राम प्रभाउ तब……'* इति। (क) जब श्रीरामजीने अपना प्रभाव जनाया तब जाना। यथा—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥'* (२। १२७। ३) (ख) यहाँ परशुरामजीके तन-मन-वचनमें प्रेम दर्शित हो रहा है। *'पुलक प्रफुल्लित गात'* यह तनका प्रेम, *'बोले बचन'* यह वचनका प्रेम और *'प्रेम न हृदय अमात'* यह हृदय-(मन-) का प्रेम है। मन और हृदय पर्याय हैं—'**स्वान्तं हृन्मानसं मनः**' (अमरकोश)। (ग) रामजीका प्रभाव जाना तब वचन बोले, इस कथनका तात्पर्य यह है कि आगे अपने वचनोंमें उनका प्रभाव कहेंगे। (घ) *'बोले बचन हृदय न प्रेम अमात'* का भाव कि जब हृदयमें प्रेम न अमाया, न अट सका, तब वचनद्वारा निकल पड़ा। तात्पर्य कि वचन प्रेममय हैं। (ङ) तन-मन-वचनसे प्रार्थना करते हैं। *'जोरि पानि'* यह तनसे, स्तुति करना वचनसे और हृदयमें प्रेम होना यह मनसे प्रार्थना करना है। [(च) जब कोई हार जाता है तब वह लज्जित होनेसे ग्लानियुक्त होता है, पर श्रीपरशुरामजीको उलटे परमप्रेम उत्पन्न हुआ।]

जय रघुबंस बनज बन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृशानू॥ १॥
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रम हारी॥ २॥
बिनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥ ३॥

शब्दार्थ—**बनज** (बन=जल+ज=उत्पन्न)=जलसे उत्पन्न=जलज=कमल। **रचना**=गढ़ंत, तरतीब, आयोजना, विशेष चातुरी एवं चमत्कारीसे प्रयोग करना। **नागर**=कुशल, प्रवीण। **बिनय**=विशेष नम्रता।=विनती, प्रार्थना।

अर्थ—हे रघुवंशरूपी कमलवनके सूर्य! आपकी जय! हे दैत्यकुलरूपी घने वनको जलानेके लिये अग्निरूप! आपकी जय!॥ १॥ हे देवता-ब्राह्मण-गौका हित करनेवाले! आपकी जय! हे मद, मोह, क्रोध और भ्रमके हरनेवाले! आपकी जय!॥ २॥ हे विशेष नम्रता, विनती, शील, करुणा (आदि) गुणोंके समुद्र! वचनरचनामें अत्यन्त चतुर! आपकी जय हो!॥ ३॥

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'जय' इति। स्तुतिमें आठ बार *'जय'* और एक बार *'जयति'* सब मिलकर नौ बार *'जय'* शब्दका प्रयोग हुआ है। 'जय'=(अपना) प्रभाव प्रकट कीजिये। **'उत्कर्षमाविष्कुरु'** (श्रीधरी-टीका-वेदस्तुति)। नौ बार *'जय'* का भाव यह है कि मेरे नष्ट हुए नवों गुण मुझे फिरसे प्राप्त हो जायँ ऐसी कृपा कीजिये। मेरे पुरुषार्थसे यह असम्भव है। यथा—*'यह गुन साधन ते नहिं होई', 'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं तबहिं करहु जब दाया॥'*

नोट—पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीके भाव इस स्तुतिके अन्तमें एक ही जगह दिये गये हैं। नौ बार 'जय' के भाव २८५ (७) में पं० रा० च० मिश्रजी और श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजीके भी देखिये।

टिप्पणी—१ *'जय रघुबंस बनज……'* इति। (क) श्रीरामजीने रघुवंशकी प्रशंसा की है, यथा—*'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥'* इसीसे परशुरामजी भी रघुवंशकी शोभा कहते हैं कि आपके अवतारसे कमलवनके समान रघुवंशियोंकी शोभा है। श्रीरामजीको *'भानु'* कहकर उनकी *'जय'* कहनेका भाव यह है कि आप 'भानु' के समान सबसे उत्कर्ष बर्तें। [(ख) *'जय'* अर्थात् सर्वोपरि कल्याणरूप और जयमान। *'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी'* प्रभुके इस वाक्यके अनुसार परशुरामजीने उनकी 'जय' अर्थात् उनका जयमान होना कहा। सूर्योदयसे कमल प्रफुल्लित होता है, वैसे ही आपके अवतारसे—आपके अभ्युदयसे रघुवंश प्रफुल्लित हो रहा है।] प्रथम चरणमें श्रीरामजीका अवतार लेना और रघुवंशको सुख देना कहा। दूसरे चरणमें अवतारका हेतु कहते हैं कि आपका अवतार राक्षसोंके नाशके लिये है। रघुवंशी शोभित हैं, प्रफुल्लित हैं इसीसे उन्हें कमलवनकी उपमा दी। राक्षस भयानक हैं, अतः उनको घोर वनकी उपमा दी, वन भयानक होता ही है। 'श्रीराम-लक्ष्मणजी रघुवंशके *'भानु'* हैं और दनुजवनके *'कृशानु'* हैं, इस कथनका भाव यह है कि आप भक्तोंके सुखदाता हैं और दुष्टोंके दुःखदाता हैं। [कमलवनका भानु कहकर श्रीरामजीका उदय कहा। इस तरह आदिमें परशुरामजीके आगमनपर जो कहा था कि *'आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा',* उस *'पतंग'* का यहाँ अस्त होना कहा। (मा० पी० प्र० सं०)]

स्वामीजी श्रीप्रज्ञानानन्द—१ *'भानू'* इति। श्रीरघुवीरजी भानु हैं; यथा—*'उयउ भानु बिनु श्रम तम नासा।', 'राम सच्चिदानंद दिनेसा।……सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥'* भानुके उदयसे तमका नाश तो होता ही है, साथ ही *'दुरे नखत'* और *'उडगन जोति मलीन'* होती है। स्तुति अपना मनोरथ लिये हुए की जाती है, प्रायः ऐसा नियम है। भृगुपतिके हृदयाकाशमें मद, मोह, कोह, भ्रम और अविनय (*'अनुचित कहेउँ बहुत……'*) ये पाँच तारे तेजसे चमक रहे थे। इन्हीं पाँचोंको तेजहीन करनेके लिये प्रथम ही भानुका उदय स्तुतिमें हुआ। रोहिणी नक्षत्रमें भी पाँच तारे हैं। इनमेंसे एक अल्प प्रकाशमान है। वैसे ही स्तुतिमें 'अविनय' तारा स्पष्ट है। एक ओर विनयका उल्लेख है तो दूसरी तरफ भृगुपतिके पास अनुचित भाषण है। इसलिये *'अनुचित कहेउँ'* का तात्पर्य 'अविनय' करना आवश्यक है। आदिसे अन्ततक परशुराम प्रसंगमें भृगुपति अविनयसे बोले हैं। पं० विजयानन्दजी भानु,

कृशानु, सागर, हंस और केतु पाँच उपमानोंको पाँच तारे गिनते हैं। अनंग और मन्दिर क्यों छोड़ दिये इसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया है।

२ *'दनुज कुल दहन कृशानू।'* 'कृशानु'=अग्नि=तेज=तेजनिधान लक्ष्मण। यह कृशानु है वैराग्य। श्रीरामजी तो *'दलन खल निसिचर अनी'* प्रसिद्ध ही हैं।

टिप्पणी—२ *'जय सुर बिप्र धेनु हितकारी।......'* इति। (क) असुरोंके नाशसे देवता, ब्राह्मण और गऊका हित होता है, अतः *'दनुज कुल दहन'* कहकर *'सुर हितकारी'* कहा। तात्पर्य कि राक्षसोंका नाश करके सुर, विप्र और धेनुका हित करेंगे। (ख) *'जय मद मोह कोह भ्रमहारी'* इति। प्रथम बाहरके राक्षसोंका नाश कहकर देवादिका हित करना कहा, अब भीतरके राक्षसोंका नाश करना कहकर हित करना कहते हैं। मद-मोहादिके नाशसे सबका हित होता है, इसीसे यहाँ किसीका नाम नहीं लेते। पुनः भाव कि ये चार परदे हमारे हृदय वा बुद्धिपर पड़े थे, सो आपने दूर करके हमारा हित किया। हमें अपने बलका मद था, यथा—*'बिश्व बिदित छत्रियकुलद्रोही॥ भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही।......गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर॥'* (२७२) परशुरामजीके इन वचनोंके उत्तरमें लक्ष्मणजीने कहा है *'अहो मुनीसु महा भट मानी।'* इस तरह प्रसङ्ग-भरमें बलका मद देख लीजिये। भगवान्‌का स्वरूप न जानना मोह है। अज्ञानके कारण ही श्रीरामजीको भी कटु वचन बोले। यथा—*'संभु सरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोध।'* (२८०) से *'बंधु सहित न त मारौं तोही'* तक, *'बोले भृगुपति सरुष हसि तहूँ बंधु सम बाम॥'* (२८२)। से *'अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा।'* तक। क्रोध तो प्रसङ्ग भरमें प्रकट है, यथा—*'बोले उर अति क्रोधु।'* (२८०) *'कोपु मोर अति घोर कृसानू'* (२८३। २), इत्यादि। श्रीरामजीको मनुष्य राजकुमार निश्चय किये हुए थे यही भ्रम है। विश्वामित्रजीने कहा था कि ये *'रामु लखनु दसरथके ढोटा',* वही यह जानते थे, यथा—*'रे नृपबालक काल बस....।'* (२७१) *'मातु पितहि जनि सोच बस करसि महीस किसोर।'* (२७२) *'देखत छोट खोट नृप ढोटा।'* (२८०। ७) इत्यादि। (ग) यहाँतक चार चरणोंमें हितकारत्व दिखाया। रघुवंशमें अवतार लेकर रघुवंशका, राक्षसोंको मार सुर-विप्र-धेनुका और मदादिको हरकर हमारा हित किया।

श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामी—मद-मोह-कोह-भ्रम भव भीम रोग है, यथा—*'ए असाधि बहु ब्याधि।'* (७। १२१) रोगका हरण सुवैद्य करता है। तस्मात् श्रीराम-लक्ष्मणजी युगल वैद्य हुए। यथा—*'बिबुध बैद भव भीम रोग के ।'*—यह है इस स्तुतिकी फलश्रुति।

टिप्पणी—३ *'बिनय सील करुना गुन सागर।.......'* इति। (क) श्रीराम-लक्ष्मणजीमें तो अनन्त गुण हैं, यथा—*'गुन सागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल गौर सरीरा॥'* (२४१। २) परंतु परशुरामजीने विनय, शील, करुणा, वचनरचना और क्षमा—ये गुण प्रत्यक्ष देखे, इसीसे उन्होंने इन्हीं गुणोंकी प्रशंसा की। विनयके यहाँ दोनों अर्थ घटित होते हैं। श्रीराम-लक्ष्मणजीने परशुरामजीसे विनती की और नम्र भी रहे। [श्रीरामजीके सभी वचन विनीत हैं। इससे हद है कि *'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा'.........'सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे॥'* (२८२। ५, ७)। शील निबाहा, इस तरह कि परशुरामजीने 'शठ', 'तू', 'तहूँ', 'बाम' और छली आदि कटु एवं अपमानके कठोर शब्दोंका प्रयोग किया, पर श्रीरामजीने प्रत्युत्तरमें कोमल ही वचन कहे और अपराध-क्षमाकी ही प्रार्थना करते रहे। करुणा यह की कि 'विष्णुधनुष चढ़ानेपर चाहते तो इनकी गतिका नाश कर देते, ब्राह्मण एवं गुरु विश्वामित्रके सम्बन्धी होनेसे वध तो करते ही नहीं। परंतु परशुरामजीपर करुणा करके उनकी अनुमतिसे केवल उनके तप:प्रभावसे अर्जित लोकोंका नाश किया। यह भी इससे कि बाण चढ़ानेपर फिर वह व्यर्थ नहीं हो सकता। देखिये समुद्रपर कोपकर बाण चढ़ानेपर जब समुद्रने प्रार्थना की तब उस बाणसे उन्होंने उसे दुःख देनेवाले उत्तर तटवासियोंका नाश किया था। वैसे ही परशुरामपर दया की। समर्थ होनेपर भी कोई कठोर दण्ड न दिया। लक्ष्मणजीके विनय, शील, करुणा, गुण भी देखे कि हम अत्यन्त

कटु वचनसे गाली देते रहे पर लक्ष्मणजी हँसते रहे, यथा—*'लषन कहा हँसि हमरे जाना', 'बिहँसि लषन बोले मृदु बानी'* इत्यादि। यह शील है। *'छमहु महामुनि धीर……।'* (२७३) इत्यादि विनय है और *'भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहौं रिस रोकी॥……'* (२७३। ५-६) इत्यादिमें करुणा गुण है। शङ्करजीको भी परास्त करनेको समर्थ होते हुए और अत्यन्त कटु कठोर वचन सुनकर भी उनको क्षमा ही करते जाते हैं यह करुणा है।] (ख) *'गुन सागर'* इति। विनय-शील-करुणाके सागर न कहकर *'गुन सागर'* कहनेमें भाव यह है कि यदि 'गुन' शब्द न देते तो समझा जाता कि केवल इन्हीं तीनके सागर हैं, अतः 'गुन' शब्द बीचमें देकर सूचित किया कि अनन्त गुणोंके सागर हैं। (ग) *'मद मोह कोह भ्रम हारी'* कहकर *'बिनय……सागर'* कहनेका भाव कि जबतक मदादि हृदयमें रहते हैं तबतक पराये गुण देख नहीं पड़ते, जबतक वे रहे तबतक दोनोंको दुर्वचन कहते रहे। (घ) *'अति नागर'*— भाव कि और लोग भी संसारमें वचन-रचनामें नागर हैं, पर आप *'अति नागर'* हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं।

सेवक सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर छबि कोटि अनंगा॥ ४॥
करौं काह मुख एक प्रसंसा। जय महेस मन मानस हंसा॥ ५॥
अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता॥ ६॥
कहि जय जय जय रघुकुलकेतू। भृगुपति गये बनहि तप हेतू॥ ७॥

अर्थ—हे सेवकोंको सुख देनेवाले! सब अङ्गोंसे सुन्दर (वा, जिनके सुभग अङ्ग सेवकोंको सुख देनेवाले हैं)! शरीरमें अगणित कामदेवोंकी छबि धारण करनेवाले! आपकी जय!॥ ४॥ मैं एक मुखसे (आपकी) क्या प्रशंसा करूँ? हे महादेवजीके मनरूपी मानसरोवरके हंस! आपकी जय!॥ ५॥ मैं अनजानेमें बहुत अयोग्य वचन कहे। हे क्षमाके मन्दिर दोनों भाइयो! (मेरा अपराध) क्षमा कीजिये॥ ६॥ *'जय जय जय रघुकुलकेतू!'* (हे रघुकुलकेतु! आपकी जय! जय!! जय!!!) ऐसा कहकर भृगुपति (परशुरामजी) तपस्या करनेके लिये वनको चले गये॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'सेवक सुखद सुभग सब अंगा।……'* इति। (क) सेवकको सुखदाता कहकर शरीरकी शोभा कहनेमें भाव यह है कि राक्षसोंको मारकर आप सुर-विप्र-धेनुका हित करते हैं और अपने शरीरकी छबिसे अपने भक्तोंको सुख देते हैं, क्योंकि सेवक आपके दर्शनसे ही सुखी होते हैं, (यथा—*'सोभा बपुष कोटि सत कामा॥ निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥'* (७। ७५) *'देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥ ……'*(५। ४२) *'राम चरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥'* (७। ११०) *'रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥ निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥'* (२। १२८) *'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥'* (१४६। ६)……*'छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥……'* इत्यादि)। (ख) अवतार लेकर पहले राक्षसोंको मारते हैं तब सुर-विप्र-धेनु सुखी होते हैं, इसी क्रमसे पहली और दूसरी अर्धालीमें *'गहन दनुज……हितकारी'* कहा। परंतु यहाँ पहले सेवकको सुख देना कहकर तब शरीरकी शोभा कही। यद्यपि शरीरकी छबिसे सेवकको सुख होता है, इस प्रकार शरीरकी सुन्दरता पहले कहनी चाहिये, इसमें तात्पर्य यह है कि प्रभु इसी रूपका सुख भक्तोंको पहलेसे ही देते हैं अर्थात् भक्तोंके हृदयमें सदा बसते हैं, अवतार पीछे लेते हैं। (ग) *'सुभग सब अंगा'*— भाव कि सब अङ्ग किसीके सुन्दर नहीं होते, पर आप दोनों भाइयोंके सभी अङ्ग सुन्दर हैं, यथा—*'सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता।'* (२१७। २) *'सोभासींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥'* (२३३। १) *'नखसिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस।'* (२१९) *'अंग अंग पर बारिअहि कोटि कोटि सत काम।'* (२२०) (घ) *'सरीर छबि कोटि अनंगा'* इति। यहाँ परशुरामजी दोनों भाइयोंकी स्तुति करते हैं, इसीसे शरीरके वर्णका नाम

नहीं लेते केवल *'सरीर'* कहते हैं? क्योंकि यदि श्याम शरीर कहें तो श्रीलक्ष्मणजीका अभाव होगा और यदि गौर शरीर कहें तो श्रीरामजीका अभाव होगा। *'छबि कोटि अनंगा',* यथा—*'सोभा कोटि मनोज लजावन।'* [ऊपर दोनों भाइयोंको वैद्य कहा। विबुधवैद्य सब देवोंमें सुन्दर हैं, इसीसे यहाँ सुन्दरता भी कही। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'करौं काह मुख एक प्रसंसा।'''''''* इति। (क) *'मुख एक'* कहनेका भाव कि करोड़ों मुख हों तब भी आपकी प्रशंसा नहीं हो सकती। [*'करौं काह मुख एक प्रसंसा'* के साथ *'जय महेस मन'''''''* कहकर जनाया कि जिन महेशके पाँच मुख हैं वे भी आपकी पूर्ण प्रशंसा नहीं कर सकते तब भला मैं एक मुखवाला कैसे कर सकता हूँ। (प० प० प्र०)] *'महेस मन मानस हंसा'* अर्थात् जो सब ईशोंके ईश हैं, उनके मनमें आप बसते हैं। तात्पर्य कि आपका प्रत्यक्ष दर्शन उनको भी दुर्लभ है। इससे जनाया कि आप महादेवके भी ईश एवं इष्टदेव हैं। दोनों भाई शिवजीके मनमानसके हंस हैं, यथा—*'सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ए दोउ बंधु संभु उर बासी॥'* (२४६। ४) (ख) *'मानस हंस'* का दृष्टान्त देकर जनाते हैं कि जैसे हंस मानस-सरमें ही रहते हैं, यथा—*'जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल।'* (२। २८१) वैसे ही आप एक महादेवजीके मनमें बसते हैं। (ग) *'करौं काह मुख एक प्रसंसा'* से जनाया कि आप वाणीसे भिन्न (परे) हैं और *'महेस मन मानस हंसा'* से जनाया कि आप मनसे भिन्न (परे) हैं, यथा—*'मन समेत जेहि जान न बानी।'* (३४१। ७) (घ) महादेवजीका मन अत्यन्त स्वच्छ है इसीसे उसे मानस कहा और श्रीराम-लक्ष्मणजी परम सुन्दर हैं, इसीसे उन्हें हंस कहा। यथा—*'ए दोऊ दसरथके ढोटा। बाल मरालन्ह के कल जोटा॥'* (२२१। ३) (ङ) इन चरणोंका सम्बन्ध पूर्वके *'सेवक सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर छबि कोटि अनंगा॥'* से है। भाव यह कि ऐसे स्वरूपोंकी प्रशंसा मैं एक मुखसे क्या करूँ, ये स्वरूप तो हंसकी तरह शिवजीके मन मानसमें बसते हैं। [(च) *'महेश मन मानस हंसा'* कहकर जनाया कि आप मेरे गुरुके हृदयमें तो निवास करते ही हैं, उसी रीतिसे शिवशिष्य मेरे मन मानसमें भी कृपा करके निवास कीजिये। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता।'* इति। (क) परशुरामजीने अनुचित बहुत-कुछ कहा है। यथा—(१) *'सहसबाहु सम सो रिपु मोरा',* (२) *'रे नृप बालक',* (३) *'काल बस'* (४) *'बोलत तोहि न सँभार',* (५) *'रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा',* (६) *'केवल मुनि जड़ जानहि मोही',* (७) *'कौसिक सुनहु मंद येहु बालक',* (८) *'कुटिल, कालबस निज कुलघालक',* (११) *'भानुबंस राकेश कलंकू',* (१२—१४) *'निपट निरंकुस, अबुध, असंकू,* (१५) *'कटु बादी बालक बध जोगू',* (१७-१८) *'आगे अपराधी गुरद्रोही',* (१९) *'राम तोर भ्राता बड़ पापी',* (२१) *'नीच मीचु सम देख न मोही',* (२२) *'मन मलीन तन सुंदर कैसे। बिष रस भरा कनक घट जैसे',* (२३) *'परसु अछत देखौं जिअत बैरी भूप किसोर।',* (२४) *'कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू'* (२५) *'देखत छोट खोट नृप ढोटा',* (२६) *'संभुसरासनु तोरि सठ करसि हमार प्रबोध',* (२७) *'तू छल बिनय करसि कर जोरे',* (२८) *'छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही',* (३०) *'तहूँ बंधु सम बाम',* (३१) *'भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा',* (३२) *'अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा।'* इत्यादि। इसीसे 'बहुत' शब्द दिया। दोनों भाइयोंको बहुत अनुचित कहा, इसीसे दोनों भाइयोंसे क्षमाप्रार्थी हैं। (ख) *'अज्ञाता'* कहनेका भाव कि अज्ञातका अपराध क्षमा किया जाता है। परशुरामजी श्रीरामजीके ही वचनसे अपना काम सिद्ध कर रहे हैं। [*'कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर'''''''* इति। देखिये तो यहाँ परशुरामजी किस नीति-(कानून-) से अपनेको निर्दोष साबित कर रहे हैं! श्रीरामजीने लक्ष्मणजीका अपराध क्षमा करानेके लिये कहा था कि *'छमहु चूक अनजानत केरी'* उसी न्यायका आधार आप भी ले रहे हैं—मैंने जो कुछ कहा सो अज्ञानके वश कहा। यद्यपि वह सब बहुत ही अनुचित था, पर आप तो क्षमाके स्थान हैं, क्षमारूप ही हैं, अतः मेरे अपराधोंको क्षमा कीजिये। (नोट—मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी तो पृथ्वीके पालक-रक्षक हैं, 'पृथ्वी' का नाम है

'क्षमा' और लक्ष्मणजी शेषावतार हो उस क्षमा-(पृथ्वी-) को धारण किये हुए हैं। अतः, *'छमा मंदिर दोउ भ्राता'* कहा)] (ख) दोनों भाइयोंने अत्यन्त क्षमा की है (लक्ष्मणजीने कहा ही है कि *'मारतहू पा परिअ तुम्हारे', 'बिप्र बिचारि बचौ नृपद्रोही',* इत्यादि। कटु वचन सुनकर भी श्रीरामजी यही कहते हैं कि *'कर कुठारु आगे यह सीसा', 'सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे', 'जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभट जेहि भय बस नावहिं माथ'* इत्यादि)। तथा दोनों भाइयोंके हृदयमें निरन्तर क्षमा रहती है; इसीसे उन्हें *'क्षमा मन्दिर'* कहा।

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी—मानसमें चौवालीस बार *'मंदिर'* शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि गुनमन्दिर ५ बार, सुखमन्दिर २ बार, क्षमामन्दिर, सुन्दरतामन्दिर एक-एक बार और ३५ बार केवल 'मन्दिर' शब्द आया है। इस प्रकार कुल ४४ बार हुआ। जिन स्थानोंमें साधारण लोकदृष्टिसे 'मन्दिर' शब्द आवश्यक था उन स्थलोंपर वह नहीं है। यथा—*'गईं भवानी भवन', 'गिरिजागृह सोहा', 'गौरि निकेता', 'हाट बाट मंदिर सुरबासा'* इत्यादि। और, जहाँ कोई अपेक्षा भी न कर सके ऐसे स्थलोंपर 'मन्दिर' आता है। यथा—*'दसानन मंदिर', 'मंदिर मंदिर प्रति कर सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥' 'कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ'* इत्यादि। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसा प्रयोग किसी विशिष्ट भावनासे ही किया गया है। विशेष करके श्रीराम, हनुमान् और शंकर इन तीनोंमेंसे किसी एकका प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष निवास दरसानेके लिये ही मन्दिरका प्रयोग किया गया है। मराठीमें इसपर स्वतन्त्र लेख लिखा गया है।

'छमा मन्दिर' का अर्थ क्षमाका निवास-स्थान ऐसा अर्थ न करके 'जिस स्थानमें क्षमा पूजादि भजन करती है, वह 'स्थान' यह अर्थ करना ठीक होगा। भाव कि आप दोनों क्षमाको भी पूज्य हैं। क्षमा नाम पृथ्वीका है। पृथ्वीने आपका भजन करनेसे ही तो क्षमाशीलत्व प्राप्त की है। *'आनँदहूके आनँद दाता' 'तोषक तोषा'* और *'सुंदरता कहँ सुंदर करई'* इत्यादिसे यही भाव स्पष्ट होता है।

टिप्पणी—४ *'कहि जय जय जय रघुकुलकेतू।'*.......' इति। (क) दोनों भाई ब्रह्मण्यदेव हैं। प्रणाम करनेसे दोनोंको संकोच होता है। इसीसे परशुरामजीने ऐश्वर्यके अनुकूल उनकी स्तुति की और माधुर्यकी मर्यादा समझकर उनको प्रणाम न किया। माधुर्यकी मर्यादा रखकर स्तुति की, इसीसे 'नमामि, भजामि' इत्यादि क्रियाएँ नहीं कहीं। और इस समय श्रीरामजी जयको प्राप्त हैं, इसीसे *'जय'* शब्दको बारंबार उच्चारण किया है। (ख) यहाँतक नौ बार *'जय'* कहा। यथा—*'जय रघुबंश बनज बन भानू'* (१), *'जय सुर बिप्र धेनु हितकारी'* (२), *'जय मद मोह कोह भ्रमहारी'* (३), *'जयति बचन रचना अति नागर'* (४), *'जय सरीर छबि कोटि अनंगा'* (५), *'जय महेस मन मानस हंसा'* (६), और *'कहि जय* (७) *जय* (८) *जय* (९) *'रघुकुल केतू।'* नव बार कहकर सूचित किया कि आप *'जय'* की अवधि (सीमा) हैं। [गिनती नव ही तक है। ९ (नौ) अङ्ककी सीमा है। नव बार कहकर अनन्त बार सूचित किया। भाव कि आपके जयकी इति नहीं है। पुनः, श्रीरामजीने परशुरामजीको ब्राह्मणोंके नव गुण दिये जो वे भूले हुए थे—*'नव गुन परम पुनीत तुम्हारे।'* अतः प्रत्येक गुणके लिये एक-एक बार 'जय' कहा।—(मा० पी० प्र० सं०)]

रा० च० मिश्र—परशुरामजीने अपनी कलाको भी धनुषमें आरोपणकर समर्पण कर दिया। अतः धनुष आप ही चढ़ गया। यहाँ परशुरामजीने धनुषका एक गुण समर्पण किया जैसा पूर्व कहा गया—*'देव एक गुन धनुष हमारे'* और अब स्तुतिद्वारा अपने नव गुण स्वीकार कर रहे हैं। *'दनुज दमन मोह भ्रमादि दमन'* इत्यादिसे रामजीसे पहला दम गुण स्वीकारकर अहङ्कार दूर किया। यह पहली जयका हेतु है। सुरविप्रधेनुके हितमें 'शम' हेतु है। इन तीनोंका मुख्य गुण यही है और इनके अहितके शमनसे इनका हित है, दूसरी जय बोलकर दूसरा 'शम' गुण लिया। मद-मोहादिके हरणका मूल कारण 'तप' है। विनय-शीलादि गुण मनकी शुचितासे प्राप्त होते हैं इससे 'शौच' गुण, *'सेवक सुखद सुभग सब अंगा'* इन लक्षणोंका मूल 'आर्जव' (कोमलता) गुण है, महेशमनमानस-हंस होनेका मूल 'शान्ति'

है। सो ये चारों गुण चार बार जय बोलकर ग्रहण किये। ये छः गुण साधनरूप हैं, इनके बिना आगेके तीन गुण नहीं प्राप्त होते। अतः इनकी प्राप्ति हो जानेपर आगेके तीन गुणोंकी प्राप्ति एक ही बार दिखाते हैं। '*छमहु छमा मंदिर*……' इति। यहाँ ज्ञानरूप लक्ष्मण और विज्ञानरूप रामजीसे क्षमाकी सिद्धि हो जानेपर सातवाँ गुण ज्ञान और आठवाँ गुण 'विज्ञान' लिया। '*जय-जय जय रघुकुलकेतू*'—इस कुलमें अवतार होनेसे केतुरूप समझ इससे 'आस्तिक्य' गुण लिया।

टिप्पणी—५ (क) '*जय रघुकुलकेतू*'— आप रघुकुलकी ध्वजा हैं, आपकी जय हो, इस कथनका तात्पर्य यह है कि आप रघुकुलकी जयके पताका हैं। (ख) '*गये बनहि तप हेतू*' इति। तपके लिये जाना कहा; क्योंकि परशुरामजीने तपसे जो लोक प्राप्त किये थे। (परशुरामजीके कहनेसे जब श्रीरामजीने रमापतिका चाप चढ़ाया तब उसपर चढ़ाये हुए अमोघ बाणसे) प्रभुने उनके तपसे अर्जित उन समस्त लोकोंका नाश कर दिया, इसीसे अब पुनः वे तपस्या करनेके लिये वनको गये। (ग) '*जय रघुबंस बनज बन भानू*' उपक्रम है और '*कहि जय जय जय रघुकुलकेतू*' उपसंहार है। [(घ) '*बनहि*' कहा, किसी वनका नाम न दिया, क्योंकि इसमें मतभेद है। (वाल्मी० १। ७७) और अ० रा० में महेन्द्रपर्वतपर जाना कहा है। पद्मपुराण उत्तरखण्डमें भगवान् नर-नारायणके रमणीय आश्रममें तपस्याके लिये जाना कहा है। इत्यादि]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—१ '*अनुचित बहुत कहेउँ*……*कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गयउ बनहि तप हेतू॥*' इति।—भाव कि मैंने अपनी समझमें उचित ही कहा था, पर अब मतिके पटलके हट जानेसे मालूम हो रहा है कि वे वचन अनुचित थे। अतः अज्ञात अनुचित वचन कहे, सो एक बार नहीं, नौ बार कहे। सात बार लक्ष्मणजीको अनुचित कहा और दो बार रामजीको कहा। अतः दोनों भाइयोंसे क्षमा माँगता हूँ, आप दोनों भाई क्षमामन्दिर हैं, अवश्य क्षमा करेंगे।

☞सम्पूर्ण रामचरितमानसमें यही एक स्तुति है, जो दोनों भाइयोंकी एक साथ की गयी। उपक्रम द्विवचनसे ही हुआ है, यथा—'*जय रघुबंस बनज बन भानू।*' भानू-शब्द द्विवचन है, और उपसंहारमें तो स्पष्ट ही कह रहे हैं कि '*छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।*'

☞इस स्तुतिमें नौ बार '*जय*' कहा है, इस भाँति नौ बार अनुचित कथनका क्षमापन करा रहे हैं। अन्तमें रघुकुलकेतु कहकर श्रुतिसेतुके रक्षा करनेवाला स्वयं ब्रह्मरूप होना द्योतित किया; यथा—'*रघुकुलकेतु सेतु श्रुतिरच्छक। काल कर्म स्वभाव गुन भच्छक॥*' (७। ३५)

ऐसी स्तुति करके भृगुपति तपके लिये वनको चले गये। क्षत्रियकुलद्रोहका परित्याग किया। अपने स्वधर्मपर आरूढ़ हो गये। द्रोह करना ब्राह्मणका धर्म नहीं है। '**कुर्यादन्यं न वा कुर्यात् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।**' ब्राह्मणको तपोबल सञ्चय करना चाहिये, यथा—'*तप बल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्हके कोप न कोउ रखवारा॥ इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला। जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र रोष पावक सो जरई॥*' सो ये महात्मा '*कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे*' ऐसा कराल वेष धारण करते थे। इसीपर लक्ष्मणजीने कहा '*कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥*' एवं दोनों भाइयोंने मिलकर परशुरामजीको फिर अपने स्वधर्म-(ब्राह्मणधर्म-)पर स्थिर कर दिया।

☞सरकार श्रुतिसेतुरक्षक हैं, इसी भाँति कृष्णावतारमें युद्धसे विरत होते अपने सखा अर्जुनको देखकर अठारह अध्याय गीता कही, विश्वरूप दिखलाया। उसे अपने स्वधर्मपर लाकर ही छोड़ा। फिर अर्जुन युद्धके लिये तैयार हो गये, बोले '**करिष्ये वचनं तव।**', क्योंकि वर्णाश्रमधर्ममें ही जगत्‌का कल्याण है, अन्य उपायसे नहीं, यथा—'*बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥*' (७। २०) सियावर रामचन्द्रकी जय।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—२ '*जय रघुबंस*……*तप हेतू*' स्तुति इति। इस स्तुतिमें आठ अर्धालियाँ हैं। प्रथम पदसे अवतार कहा। द्वितीयसे और तृतीयसे अवतारका प्रयोजन '**विनाशाय सुरद्विषां परित्राणाय साधूनाम्॥**' कहा। '*सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्हपर न सुराई॥ मारतहू पा परिय तुम्हारे*'

इत्यादि वाक्योंसे जान लिया कि *'सुर बिप्र धेनु हितकारी'* हैं। *'तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी'* कहनेसे मदहारी, *'कृपा कोप बध बँधब गोसाईं। मोपर करिय दास की नाईं॥'* से मोहहारी, *'तजिय बिप्रवर रोष'* इत्यादिसे कोहहारी, और अपने मतिके पटलके उघरनेसे भ्रमहारी जाना।

इसी भाँति तीसरी अर्धालीमें भी। *'होइहि कोउ एक दास तुम्हारा'* कहनेसे विनयसागर, *'अपराधी मैं नाथ तुम्हारा'* कहनेसे शीलसागर, *'अभय होइ जो तुम्हहि डेराई'* कहनेसे करुणासागर, *'नवगुन परम पुनीत तुम्हारे'* आदि वाक्योंसे गुणसागर जाना। *'मृदु गूढ़ बचन'* सुननेसे वचन-रचना अतिनागर जाना। अतः परशुरामजीने इन्हीं विशेषणोंसे स्तुति की।

'रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥' अतः चौथी अर्धालीसे शोभा कही। *'महेश मन मानस हंस'* कहकर अपने इष्टदेवका भी आराध्य माना। यह स्तुतिकी परा सीमा है।

छठी अर्धालीमें अपराध क्षमापन कराते हैं। दोनों भाइयोंसे संवाद हुआ था। दोनों भाइयोंका कहना एक ही था। पर लक्ष्मणजीने परशुरामजीका क्रोध देखकर युद्धकी धार अपने ऊपर लेना चाही, अतः *'बोले परसुधरहिं अपमाने'।* अब सब बातें परशुरामजीके सामने खुल गयीं, अतः दोनों भाइयोंकी स्तुति करते हैं। *'भानू कृशानू'* आदि शब्द द्विवचनान्त हैं, और क्षमा भी दोनों भाइयोंसे माँगते हैं। जय जय सीताराम। सातवीं अर्धालीका भाव पूर्व आ चुका है।

श्रीस्वामीप्रज्ञानानन्दजी—१ *'रघुकुलकेतु'* यह विशेषण दोनोंमें एक साथ ही चरितार्थ होता है। बिना दण्डकी सहायताके केतु आकाशमें ऊँचा नहीं फहराता है। श्रीलखनलालजीका यश ही तो रघुपति-कीर्ति-पताकाके लिये दण्डरूप हो गया है। यथा—*'रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जसु जाका॥'* इस रीतिसे यह पूरी स्तुति श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंकी मिली हुई है। मानसमें एकमात्र यही स्तुति है जिसमें युगल भ्राताओंकी स्तुति की गयी है। वे ही विबुध वैद्य सिद्ध हो गये।

२—इस स्तुतिमें धर्मरथके सम्पूर्ण अङ्गोंका उल्लेख प्रत्यक्ष किया गया है।

परशुराम स्तुतिमें	धर्ममय रथमें
शील और केतु	सत्य शील—ध्वजा पताका।
भानु, दनुज कुल दहन, धेनु हितकारी	विवेक, बल, परहित—घोरे।
क्षमा (मन्दिर), करुणा (सागर), सब सुखद	क्षमा, कृपा, समता—रजु जोरे।
महेस, कृशानु, बिप्रहित, सुरहित	ईस-भजन, विरति, विप्र-गुरु-पूजा
मन मानस	अचल मन—त्रोन
गुनसागरमें शेष सब गुण	सम, दम, यम, नियम, धैर्य, शौर्य।
रोहिणी नक्षत्रका रूप शकटका-सा है	रथ और शकट एक ही है।

इसमें कदाचित् लक्ष्मणजीके करुणासागरत्वमें शंकाका होना सम्भाव्य है। शंकाका निरास *'सुनि लछिमन सब निकट बोलाए। दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए॥'* (५। ५२) इस अर्धालीसे होता है।

३—देवता और नाम। चौथा नक्षत्र रोहिणी है। इसकी देवता धाता (रत्नमाला) है। यह स्तुति भी चौथी है* इस स्तुतिका योग न आ जाता तो *'बिधु बुध बीच रोहिनी सोही'* यह उल्लेख करना असम्भव हो जाता। इतना ही नहीं अवतार कार्य न होता, न रामायणका निर्माण ही होता। इस स्तुतिका योग ही भावी रामचरित्रका धाता (विधाता) है। इस समयसे ही अवतारकार्यका सचमुच प्रारम्भ होता है।

इस रीतिसे इस स्तुतिका रोहिणी नक्षत्रसे अनुक्रम, नाम, तारे, रूप और देवता इन पाँच अङ्गोंमें यथामति सविस्तर मिलान करके दिखाया गया।

पहली स्तुति (ब्रह्माकृत) अश्विनी है और उत्तरकाण्ड दोहा ५१ वाली नारदस्तुति रेवती नक्षत्र (अट्ठाईसवाँ

---

* ब्रह्माकृत स्तुति, दूसरी माता कौसल्याकृत, तीसरी अहल्याकृत और चौथी यह है।